जैन भारती

वर्ष 50 • अंक 7 • जुलाई, 2002

With best compliments from :

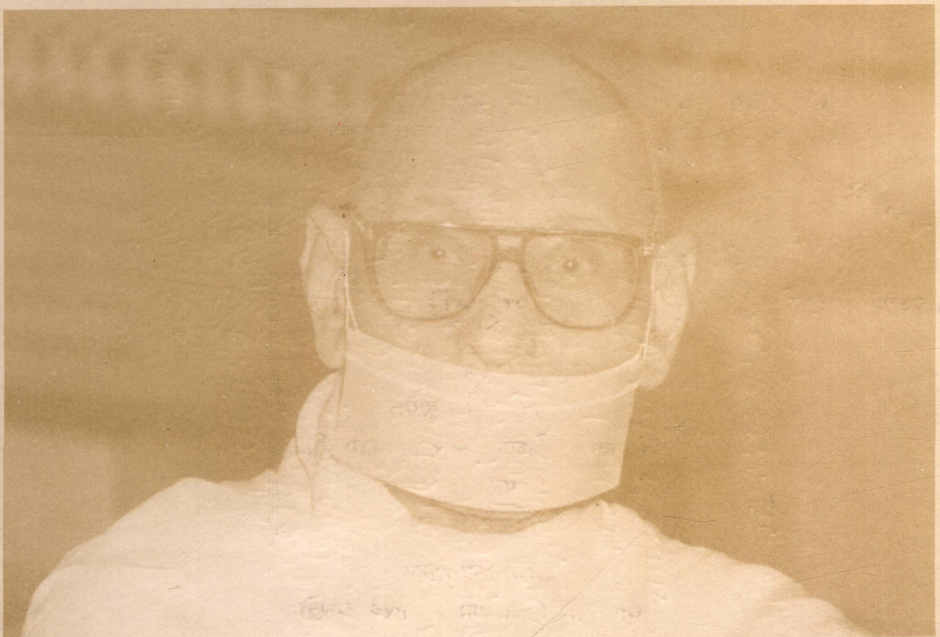

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring-Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

Pemchand Chopra Charitable Trust

W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

•

Jhamkudevi Chopra Charitable Trust

11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

जुलाई, 2002 • वर्ष 50 • **स्वर्ण जयंती वर्ष** • अंक 7 • रु. 15.00

प्रसंग

5
शुभू पटवा
सम्यक् आचरण

विमर्श

9
नन्दकिशोर आचार्य
अहिंसा की राजनीति और उससे आगे

12
रजनीश शुक्ल
महावीर का चिंतन और वर्तमान परिस्थितियां

अनुभूति

19
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
तेरापंथ : निष्कर्म और निष्काम की फलश्रुति

23
आचार्यश्री तुलसी
न्याय मारग चालणो : चारित्र चोखो पालणो

28
सुरेश जैन
अहिंसा : श्रेष्ठ जीवन-मूल्य

31
समणी मंगलप्रज्ञा
वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि

35
जैन कथा
एक हाथ की ताली

36
कविता
भाई वीर सिंह की कविताएं

शीलन

39
विद्यानिवास मिश्र
भारतीय सनातन मूल्य

42
मुनि प्रशान्तकुमार
कैसे सोचें! कब सोचें!! कितना सोचें!!!

46
बालकथा
इंदिरा अनंतकृष्णन
पोन्नी, शीला और तोता

•
आवरण
खेराज

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 270305, 202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 125/- रुपये • त्रैवार्षिक 350/- रुपये • दसवर्षीय 1000/- रुपये

मनुष्य में पहली बार ईश्वर की अवधारणा उसके आत्म की विस्तृत चेतना के भीतर ही जागृत हुई थी—एक ऐसी अतिरिक्त शक्ति जो मनुष्य को मनुष्य से इतर सृष्टि से जोड़ती है। अब मनुष्य एक नामहीन, अनाथ और अकेला प्राणी नहीं रहता। समूची सृष्टि के क्रियाकलाप का महज दर्शक मात्र नहीं, बल्कि उसमें सक्रिय रूप से हिस्सा बंटाता है; यह उसके जीवन-निर्वाह के लिए ही नहीं, जीवन-अर्थ के लिए भी अनिवार्य है। पहले उसके कर्म का कोई साक्षी नहीं था, इसलिए उसे अपना समूचा अस्तित्व एक प्रयोजन-रिक्त, चारी-कृति जान पड़ती थी, किंतु इस आंतरिक चेतना के भीतर (हम उसे ईश्वर कहें या कुछ और, इससे अंतर नहीं पड़ता), अब उसे न केवल जन्म से मृत्यु तक फैला अपना जीवन, बल्कि अपने चारों ओर फैली विराट प्रकृति और समूची सृष्टि अर्थों से भरे जान पड़ते हैं। मनुष्य और सृष्टि के बीच फैला अथाह मौन अचानक टूट जाता है और जहां शून्य था, वहीं अब समूचा परिदृश्य संकेतों, अर्थों, गोपनीय रहस्यों से भरा दिखाई देने लगता है। पहली बार सृष्टि एक 'कृति' में बदल पाती है—मनुष्य को वैसे ही अभिभूत, आलोड़ित और रोमांचित करती हुई—जैसे हम किसी विराट कलाकृति के समक्ष महसूस करते हैं। दुनिया अब एक खाली पन्ना नहीं, विचित्र संकेतों से लिखी एक पूरी किताब जान पड़ती है—एक खुली किताब—जिसका लेखक अदृश्य है, किंतु ज्यों-ज्यों हम इन संकेतों का अनुवाद करते जाते हैं, उतना ही उसका लेखक एक विशिष्ट किस्म की दृश्यता ग्रहण करने लगता है। हर धर्म इसी किताब की टीका है, अनुवाद है, व्याख्या है। अनुवाद की भाषा एक-दूसरे से कितनी ही भिन्न हो, किंतु पुस्तक आज भी वही है, जो हजारों वर्ष पहले थी।

—निर्मल वर्मा

वैचारिक पराधीनता जैसे अच्छी बात नहीं है, वैसे ही वैचारिक संघर्ष भी अच्छा नहीं है। अच्छी बात है मन की शांति और शांति में से ही अच्छे विचार निकलते हैं। जिसका मन दूसरों को शंकाशील बनाकर अपने गुट में लेने का होता है, जो गण में भेद डाल अपना नया गण खड़ा करना चाहता है, यह सब अशांत मन की प्रतिक्रिया है। श्रद्धा या आचार का कोई नया विषय निकल आए तो उसकी चर्चा बड़ों से की जाए पर औरों से न की जाए। औरों से उसकी चर्चा कर उनको संदिग्ध न बनाया जाए। बड़े जो उत्तर दें वह अपने हृदय में बैठे तो उसे मान लिया जाए और न बैठे तो उसे केवलीगम्य कर दिया जाए। पर उस विवादास्पद विषय को लेकर गण में भेद न डाला जाए।

इसका सारांश इतना ही है कि अपने विचारों का ऐकांतिक आग्रह सामान्य साधु भी न करे, बहुश्रुत साधु भी न करे और आचार्य भी न करे। तर्क की पूंछ को बहुत लंबी न बनाए। सामान्य साधु बहुश्रुत और आचार्य पर विश्वास करे और आचार्य बहुश्रुतों की बात पर समुचित ध्यान दें। इस प्रकार यह एक ऐसी श्रृंखला गूंथी है, जिसमें न कोई पूरा स्वतंत्र है और न कोई पूरा परतंत्र। स्वतंत्रता उतनी ही है कि जिससे साधना का मार्ग अवरुद्ध न हो और परतंत्रता उतनी ही है जिससे साथ में रहने में बाधा उत्पन्न न हो। गण की शक्ति, सौहार्द और विकास का पथ अवरुद्ध न हो।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

जैन आगमों में सत्य की महिमा जिस रूप में उद्गीत है वह अधिक प्रभावी, उपयोगी और व्यावहारिक हो सकती है। ऐसी स्थिति में हम उन वाक्यों को आदर्श मानकर सत्य के प्रति अपने विश्वास को और दृढ़ बना सकते हैं। भगवान महावीर सत्य के महान साधक थे। उन्होंने अपने साधनाकाल में दुःसह कष्ट सहे, पर कभी असत्य का सहारा नहीं लिया। उनके अपने ही शिष्य गोशालक ने असत्य बोलकर उन्हें कठिनाइयों में डालने का भरसक प्रयास किया, किंतु उन्होंने अपने बचाव के लिए भी कभी सत्य को नहीं झुठलाया। सत्य के बारे में उनकी अनुभवपूत वाणी के कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं—

सच्चं भयवं—सत्य ही भगवान है।

सच्चं लोयम्मि सारभूयं—सत्य लोक में सारभूत है।

सत्यमेव समभिजाणहि—सत्य का अनुशीलन करो।

सच्चंसि धितिं कुव्वह—सत्य में धैर्य रखो।

सच्चस्स आणाए उवट्ठिए से मेहावी मारं तरति—जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है, वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है।

—आचार्य तुलसी

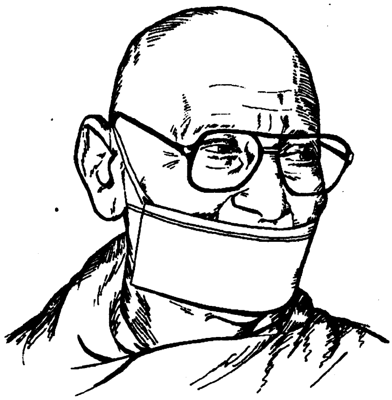

जो वीतराग हो जाता है, वह किसी नियम से बंधा भी नहीं होता और मुक्त भी नहीं होता। उस पर कोई नियंत्रण नहीं होता, पर वह अनुशासन से मुक्त नहीं होता। वह न बंधा होता है और न मुक्त। वह बाह्य नियमों से बंधा हुआ नहीं होता और आत्मानुशासन से मुक्त भी नहीं होता। बंधन लाने वाले सारे बीज उसके समाप्त हो जाते हैं। बंधन लाने वाली सारी वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं।

उसके लिए नियंत्रण अपेक्षित नहीं होता। नियंत्रण को सर्वथा स्वीकार नहीं किया जा सकता और अनियंत्रण को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एकांगिता स्वीकार्य नहीं हो सकती।

कुछ लोग कहते हैं—'वृत्तियों का नियंत्रण मत करो। इंद्रियों का नियंत्रण मत करो। इच्छाओं का दमन मत करो। मुक्त भोग करो। जो मन में आए वैसा करो। एक क्षण आएगा कि वृत्तियों से मुक्त हो जाओगे।'

यह बात प्रिय लगती है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि नियंत्रण न हो। मुक्त भोग प्रचलन हो। किंतु आज तक का इतिहास बताता है कि जहां स्वच्छंदता बढ़ती है, वहां मनुष्य जाति का पतन होता है। अनियामकता, स्वच्छंदचारिता मनुष्य को आगे नहीं बढ़ाती। अनियंत्रण की बात उस भूमिका में आती है जहां बाहर से विकार समाप्त हो जाते हैं, बाहर से दोष शांत हो जाते हैं। बाहर में बैठा शत्रु सामने नहीं होता और यह तब होता है जब भीतर का शत्रु शांत हो जाए, भीतर की वृत्तियां शांत हो जाएं। उस स्थिति में बाहर का कुछ बचता ही नहीं। एक ज्ञानी की भूमिका अज्ञानी कैसे निभा सकता है? बात एक ही है, ज्ञानी उसका एक अर्थ करता है और अज्ञानी उसका दूसरा अर्थ करता है। घटना एक होती है, सिद्धांत एक होता है, किंतु ज्ञानी उसको दूसरे अर्थ में ले लेता है और अज्ञानी उसको दूसरे अर्थ में ग्रहण करता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

सम्यक् आचरण

आचरण की बात आते ही सामान्यतः हमारा ध्यान धर्माचरण की ओर ही जाता है। किसी व्यक्ति ने मंदिर-मठ या गिरजाघर में जाकर यदि कभी आराधना नहीं की, मस्जिद या गुरुद्वारा में जाकर कभी माथा नहीं टेका—कहा जाएगा कि अमुक व्यक्ति में धार्मिक आचरण का अभाव है। इसी तरह कोई व्यक्ति नित्य-प्रति विधिपूर्वक (अपनी-अपनी) पूजा-अर्चना करता है और इसके उपरांत ही अपने दैनंदिन कार्य-व्यापार में लगता है—कहा जाएगा कि अमुक व्यक्ति का आचरण धर्म-युक्त है। किसी भी व्यक्ति को देखने का यह नजरिया सही नहीं माना जा सकता। क्योंकि आचरण की पहचान का यह एक स्थूल नजरिया ही हो सकता है।

दरअसल आचरण एक निश्चित समय में किसी विधि से कर लेने जैसा कार्य है ही नहीं। वह व्यक्ति के स्वभाव और उसके व्यक्तित्व का स्पष्ट दर्पण होता है। जो कुछ हर क्षण परिलक्षित होता है, किसी भी व्यक्ति का सही-सही आचरण वही कहा जा सकता है।

लेकिन जब 'सम्यक् आचरण' की बात करते हैं तो हमारे सामने कुछ 'मूल्य' स्पष्ट उभर आते हैं। वे मूल्य जो शाश्वत हैं और जो पूजा-अर्चना की किसी विधि से ही नहीं पहचाने जाते। जिनके लिए मंदिर-मठ, गिरजाघर, गुरुद्वारा या मस्जिद धोकने की भी जरूरत नहीं होती। उनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है।

आज के समाज का यह दुर्भाग्य है कि आचरण की पहचान ऐसे शाश्वत मूल्यों से न होकर पूजा-अर्चना की स्थूल विधियों से ही हो रही है। एक व्यक्ति अपने जीवन-व्यवहार में सदा सत्य-आचरण करता है, किसी कूट-कपट में नहीं फंसता-फंसाता, पर वैसा प्रदर्शन नहीं करता—उसके आचरण पर कभी भी प्रश्न-चिह्न लग सकता है। ठीक इसके बरक्स एक व्यक्ति अपने दैनंदिन कार्य-व्यापार में कोई कूट-कपट करते हुए किंचित भी संकोच नहीं करता, पर धर्माचरण के स्थूल आवरण को ओढ़े रखता है—उसके प्रति किसी को कोई शंका नहीं होती। बल्कि ऐसे ही व्यक्ति आज के समाज में प्रतिष्ठित और प्रशंसित होते आ रहे हैं।

अलबत्ता यह एक शुभ लक्षण है कि आज के समाज की इस विडंबना को समझने वाले लोग इसी समाज में विद्यमान हैं। समय-समय पर इन विसंगतियों पर चोट भी की जाती है, पर वह कितनी असरदार होती है और कितनी बेकार चली जाती है—यह किसी से छिपा नहीं है। इसलिए यह बात अधिक विचारणीय हो जाती है कि इन विसंगतियों से समाज को मुक्त करने के कारगर उपायों पर गंभीरता से सोचा जाए।

यह भी विडंबना ही है कि हमारे समाज में धर्ममय आचरण की तो प्रतिष्ठा है, पर जिन शाश्वत मूल्यों पर हर धर्म की धुरी टिकी हुई है, उनके प्रति समाज में अचेत लापरवाही है। वैचारिक स्तर पर समर्थ लोगों में इस विडंबना को तोड़ने का दुर्द्धर्ष साहस तो नहीं है, बल्कि सुचिंतित भोलापन अवश्य परिलक्षित होता है। कई बार लगता है कि सम्यक् आचरण की कोई आभा उनमें भी प्रकट नहीं हो रही, जिसकी उनसे अपेक्षा है। यह एक दूसरे प्रकार का कूट-कपट है जो व्यवसाय-वाणिज्य या सामाजिक-राजनीतिक कूट-कपट से कहीं अधिक विनाशक-घातक है।

धर्ममय आचरण और शाश्वत जीवन-मूल्य अलग-अलग रूप में देखना-रखना भी एक विडंबना है। अन्यथा जिस धुरी पर धर्म टिका है, उन शाश्वत मूल्यों से वह पृथक कैसे हो सकता है? और यदि धर्म उन मूल्यों से पृथक नहीं है तो धर्माचरण में वे मूल्य निहित होने ही चाहिएं।

यदि विश्वजनीन स्तर पर भी हम विचार करें तो सत्य, अहिंसा, संयम ऐसे मूल्य हैं जिन पर कोई मतभेद नहीं हो सकता। भारतीय दृष्टिकोण से यदि हम जीवन-मूल्यों की बात सोचें तो पाएंगे कि धर्म इन्हीं मूल्यों में निहित है। इसीलिए भारतीय दृष्टि में धर्म और आचरण को लगभग एक ही नजर से देखा जाता रहा है। चारित्र भी आचरण से ही परिलक्षित होता है। आचार्य कुंदकुंद तो कहते ही हैं—'चारित्रं खलु धम्मो : चरित्र ही धर्म है।' जैन शास्त्रों में तो अहिंसा, संयम और तप से युक्त धर्म को उत्कृष्ट मंगल कहा गया है।

जो उत्कृष्ट मंगल है वही सम्यक् आचरण है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि सम्यक् आचरण ही एक ऐसी विधि है जिससे आज के समाज में व्याप्त विसंगतियां-विषमताएं निर्मूल हो सकती हैं। इनके निर्मूल होने में ही सबका मंगल निहित है। जिसमें सबका मंगल निहित है—वह विधि या मूल्य सर्वव्यापी, सर्वग्राही क्यों नहीं हो रहे?

यह एक जटिल सवाल है। जटिल होते हुए भी इसका उत्तर हमें तलाशना ही होगा। भारतीय जन-मानस की एक बड़ी कठिनाई यह है कि वह वर्तमान की अपेक्षा अतीत में अधिक जीता है और भविष्य की चिंता में सदा घुलता रहता है। यही वजह है कि जिन मूल्यों में सबका मंगल निहित है, वे सिद्धांत और आदर्श के रूप में तो चर्चित होते हैं, पर व्यापक स्तर पर समग्र रूप से जीवन-व्यवहार में नहीं उतर पाते हैं। यदि हर एक का जीवन-व्यवहार इन्हीं मूल्यों से संचालित-परिचालित हो जाए तो जो विसंगतियां-विषमताएं समाज में आज हम देख रहे हैं, उनका स्वतः लोप हो जाए।

इसके उपाय क्या हो सकते हैं? इस पर गहन चिंतन की आवश्यकता है। इसका कोई 'फॉर्मूला' उपाय नहीं हो सकता, जो सब जगह समान रूप से लागू हो सके। देश, काल और परिस्थिति के आधार पर ही कुछ उपाय सोचे जा सकते हैं। अशिक्षा, सामाजिक-आर्थिक असंतुलन, नेतृत्व (चाहे धार्मिक नेतृत्व हो या कि राजनीतिक-सामाजिक) में विन्यस्त निहित स्वार्थ से उपजने वाली विग्रहकारी शक्तियों से समाज कैसे मुक्त हो और किस तरह सहज संतुलन स्थापित हो—इसके उपाय 'एक-रूप' नहीं हो सकते हैं। पर हां! लोक-शिक्षण की कोई एक सहज-सरल विधि इसके लिए निश्चित रूप से खड़ी की जा सकती है, जो सर्वत्र 'एक-रूप' भी हो सकती है।

सौभाग्य से इस दिशा में कुछ उपक्रम सक्रियता से सामने आने लगे हैं। अणुव्रत की पृष्ठभूमि पर अवलंबित 'अहिंसा-समवाय' ऐसा ही एक उपक्रम है। संयोगवश इस उपक्रम के साथ 'गांधी-दृष्टि' और 'गांधी-विचार' की शक्ति भी संलग्न हो रही है। सांप्रदायिक बाड़ा-बंदी से पूरी तरह मुक्त और महावीर के अहिंसा दर्शन व उसी में से निसृत आचार-सूत्र के प्रखर भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का अवलंबन भी इस 'अहिंसा-समवाय' को प्राप्त है।

अहिंसा-समवाय और अणुव्रत के साथ-साथ समान चिंतनधारा वाली समाज की अन्य शक्तियां यदि सहभागी बन जाएं तो 'सम्यक्-आचरण' की दिशा में कारगर फलश्रुति परिलक्षित हो सकती है।

— शुभू पटवा

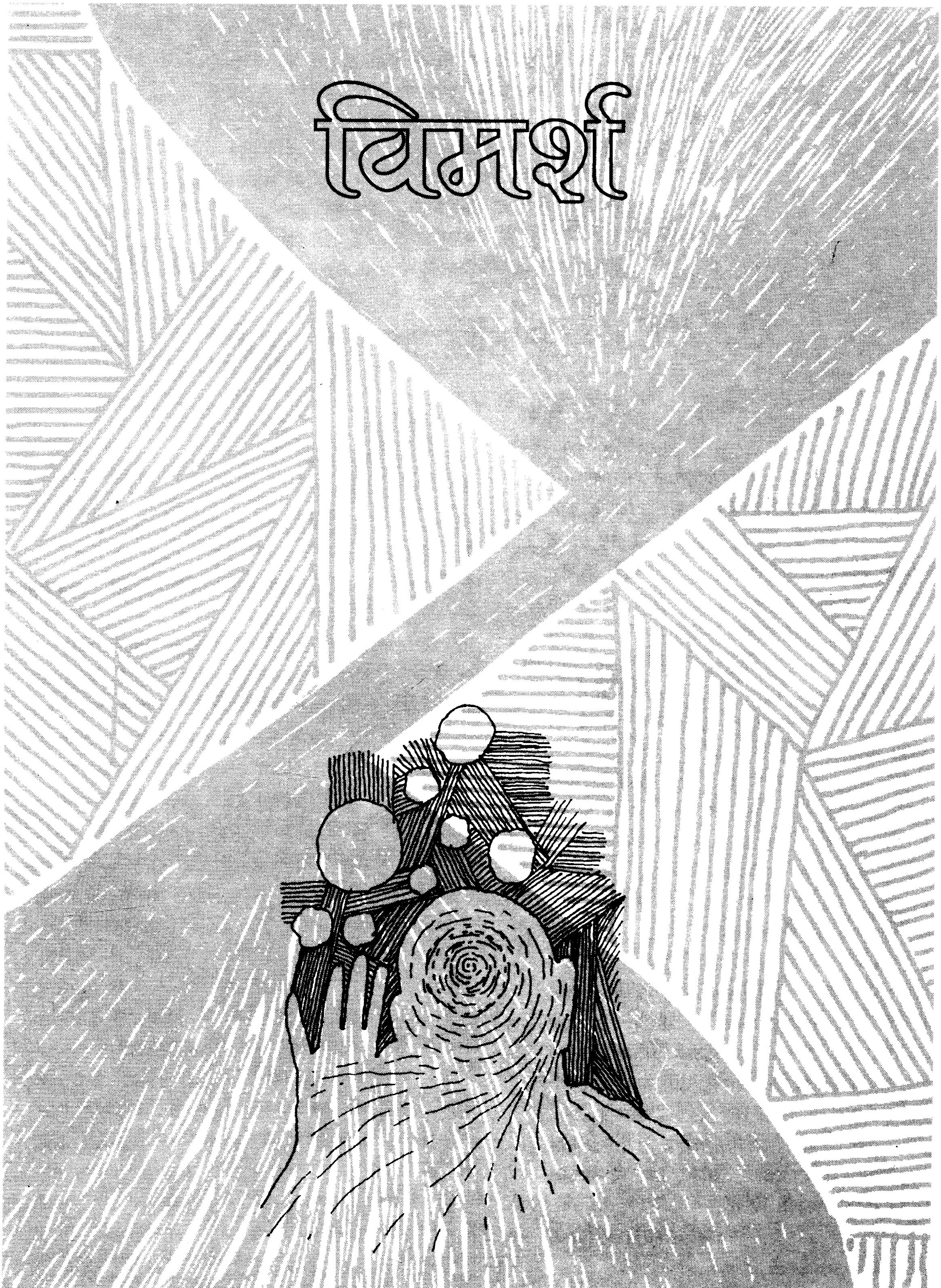
विमर्श

हम सब जीवधारी असल में अपने ही तत्त्वों की संगति में हैं, सहस्रों वर्षों के अनुकूलन के बाद हम इस जीवन के इतना सानुरूप हो गए हैं कि अपनी निष्चेष्ट अवस्था में हम अपने आस-पास से एकरस दीखते हैं, जब तक कि किसी स्वांग द्वारा अलगाकर देखने का विशेष उपक्रम न किया जाए। इस संसार के प्रति शंकालु बने रहने का कोई आधार नहीं है। यह हमारा विजातीय नहीं है। यदि यहां भय है तो हमारे भय हैं। यदि नरक है तो हमारे नरक हैं। अगर जोखिमें हैं तो हमें वे भी उतनी ही प्रिय होनी चाहिएं। यदि हम इन सिद्धांतों के होकर रहें तो 'दुर्गम' में विश्वास रखना सीख जाएं, तो जो-कुछ हमें अजनबी और परे लगता है, वह हमारा आत्मीय अनुभव बन सकेगा। हम उन मिथकों को कैसे बिसार सकते हैं जो सब जातियों की आरंभिक अवस्थाओं में प्रचलित रहा करते हैं—वे मिथक जिनमें अंतिम क्षणों में नागों के राजकुमारियों में बदल जाने की गाथाएं संचित हैं। शायद हमारे जीवन के सारे नाग सारी राजकुमारियां हैं, जो हमारे साहसी और सक्रिय हो उठने का इंतजार कर रही हैं। हमें डराने वाली चीजें वस्तुतः बहुत ही निरीह और निस्सहाय होती हैं, और हमारे ही प्यार-दुलार की आकांक्षी होती हैं।

—**राइनेर मारिया रिल्के**

हम उसी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को उचित कह सकते हैं जो मनुष्य के अर्थात् चेतना के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की भूमिका निभा सके। दूसरे शब्दों में, इस पूरी व्यवस्था का भी आधार विधायी अर्थों में अहिंसा को ही होना चाहिए। तभी विकास की प्रक्रिया में मनुष्य एक चेतन प्राणी होने के नाते अपने उत्तरदायित्व को निभा पाएगा। यदि वह इस उत्तरदायित्व को नहीं निभाता है तो जैविक स्तर पर तो मनुष्य कहला सकता है, लेकिन सांस्कृतिक और मूल्यगत स्तर पर नहीं। विकास की प्रक्रिया बड़ी धीमी, जटिल और भटकावों से भरी है। यदि आज हमारी व्यवस्था या हमारी प्रवृत्ति इस दिशा की ओर उन्मुख नहीं है, तो यही मानना होगा कि वह मानवीय इतिहास की एक और भटकन है।

अहिंसा की राजनीति और उससे आगे

❑ नन्दकिशोर आचार्य ❑

एक सभ्य समाज से सामान्य तौर पर यह अपेक्षा की जाती है कि उसका राजनीतिक व्यवहार भी सभ्य अर्थात् वैधानिक और लोकतांत्रिक हो। सभ्यता के विकास का एक तात्पर्य मनुष्य समाज में अहिंसामय आचरण का विकास भी है, इसलिए यह अपेक्षा संगत और स्वाभाविक है। जब कभी भी जनसामान्य या किसी विशेष वर्ग द्वारा किन्हीं मांगों को मनवाने के लिए दबाव डाला जाता है या आंदोलन किए जाते हैं तब सत्ता द्वारा—चाहे उसका रूप राजनीतिक, आर्थिक या धार्मिक कुछ भी हो—सदैव वैधानिकता का आग्रह किया जाता है और अक्सर उस वैधानिकता का तात्पर्य सत्ता पक्ष की सहूलियत या इच्छा हो जाता है, क्योंकि अंततः सत्ता का समर्थन ही किसी बात को वैधानिकता प्रदान करने के मान्य तरीके के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसलिए राजनीतिक आचरण के क्षेत्र में वैधानिकता और लोकतांत्रिकता या अहिंसक आचरण का भेद समझ लेना जरूरी है, क्योंकि अहिंसा और लोकतंत्र तो सदैव एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, लेकिन वैधानिकता कई बार लोकतंत्र की विरोधी भी हो सकती है। किसी भी लोकतांत्रिक आंदोलन या प्रदर्शन को अवैध घोषित करना किसी सरकार का वैधानिक अधिकार तो हो सकता है, लेकिन ऐसा कदम अनिवार्यतः लोकतांत्रिक नहीं कहा जा सकता—बल्कि मूल्यगत स्तर पर देखा जाए तो अक्सर वह लोकतंत्र विरोधी ही होता है, क्योंकि बहुमत की ही नहीं, किसी एक भी व्यक्ति की आवाज को दबाने का कोई भी प्रयत्न अनिवार्यतः एक लोकतंत्र-विरोधी प्रयत्न है। असहमति का अधिकार लोकतंत्र का एक बुनियादी गुण है, लेकिन किसी को अपनी राय व्यक्त करने से रोकना या किसी की बात को इसलिए न सुनना कि वह हमारी मंशा के अनुकूल नहीं है, लोकतंत्र का असम्मान है।

जब हम सभ्य समाज की बात करें, तब यह समझ लेना जरूरी है कि समाज में सिर्फ शासित और सामान्य जन ही नहीं, वह वर्ग भी सम्मिलित होता है जिसे हम शासक या सुविधा-संपन्न विशिष्ट वर्ग कहते हैं। इसलिए समाज से सभ्य आचरण की अपेक्षा करते समय यह देखना भी निहायत आवश्यक हो जाता है कि इस शासक, सत्ता-संपन्न या सुविधाजीवी विशिष्ट वर्ग का अपना व्यवहार वास्तविक अर्थों में कितना सभ्य और सुसंस्कृत है और वह अपने आचरण में किस सीमा तक लोकतांत्रिक और अहिंसक है।

हिंसा का दायरा यदि सिर्फ दैहिक सीमा तक ही व्याप्त है तब तो इस वर्ग के आचरण को अहिंसक ही मानना होगा, क्योंकि आधुनिक समाजों में यह वर्ग अपने स्वार्थों का पोषण बहुत सूक्ष्म तरीकों से करता है और यदि कभी हिंसा का प्रयोग आवश्यक होता भी है तो वह राज्य अथवा कानून के माध्यम से किया जाता है। इस प्रकार इस वर्ग की हिंसा वैधानिक या कानूनी हिंसा होती है और इसलिए सामान्यतया सभ्य आचरण के अंतर्गत ही स्वीकार की जाती है। सामान्यतया अहिंसा का अर्थ बहुत एकांगी

समझा जाता है—शायद इसलिए कि वही उस वर्ग के अनुकूल पड़ता है जो शासन, अर्थतंत्र और समाज पर हावी है। यह वह वर्ग है जो हिंसा को केवल स्थूल अर्थों में ग्रहण करता है, लेकिन हिंसा सिर्फ दैहिक नहीं होती—वह तो उसकी सर्वाधिक स्थूल अभिव्यक्ति है। बुनियादी अर्थ में तो वह हर भावना और चेष्टा हिंसा है जो व्यक्ति मानव और इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति सहित संपूर्ण मानवीय चेतना की सृजनात्मक संभावनाओं की अभिव्यक्ति और विकास का दमन करती या उसमें बाधा पहुंचाती है। सृजनात्मकता का दमन या उसके प्रति उदासीनता भी हिंसा की सूक्ष्मतर और इसीलिए गुरुतर अभिव्यक्ति है।

इसीलिए अहिंसा की धारणा के समर्थक किसी भी प्रकार के उत्पीड़न, दमन और शोषण को हिंसा की संज्ञा देते हैं। इसलिए यदि कानून और सत्ता के विभिन्न प्रकार कथित अहिंसक आचरण की आड़ में किसी भी प्रकार के शोषण, दमन और उत्पीड़न को बनाए रखना चाहते हैं, तो निश्चय ही उसे किसी भी अवस्था में सभ्य आचरण नहीं कहा जा सकता। अपने स्वार्थों या शोषणमूलक व्यवस्था पर आघात होते ही यह वर्ग जिस प्रकार राज्य और कानून को हिंसक रूप ग्रहण करने के लिए बाध्य करता है, उसी से इसके सभ्य आचरण की असलियत खुलकर सामने आ जाती है।

इसलिए सवाल उठता है कि सामाजिक उत्पीड़न, आर्थिक शोषण और राजनीतिक दमन से ग्रस्त समाज यदि अपने बचाव में हिंसा का सहारा लेता है, तो उसे सभ्य आचरण क्यों नहीं माना जाए? यह बहुत उलझा हुआ सवाल है और इसका कोई भी आसान उत्तर नहीं दिया जा सकता—बल्कि शायद हर परिस्थिति में इसका कोई एक उत्तर हो भी नहीं सकता और विभिन्न परिस्थितियों के विश्लेषण और आवश्यकता पर ही इसका उत्तर निर्भर करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिंसा एक दुष्चक्र है, क्योंकि उसकी भित्ति घृणा पर खड़ी है और इसलिए एक दफा उस दुष्चक्र में फंस जाने पर आसानी से उससे निस्तार संभव नहीं है; इसलिए जहां तक संभव हो, शोषित वर्ग का राजनीतिक आचरण भी अहिंसक प्रणालियों पर ही आधारित होना उचित है। लेकिन कई बार ऐसा अवसर भी उपस्थित हो सकता है जब अहिंसा कारगर नहीं होती क्योंकि अहिंसा भी तभी कारगर होती है जब प्रतिपक्ष में भी नैतिक और मानवीय मूल्यों के प्रति किसी स्तर पर कोई आकर्षण बना हो। पूर्ण बर्बरता के सम्मुख या लोकतंत्रात्मक विरोध के सारे रास्ते एकदम बंद कर देने पर आवश्यक सीमा तक अहिंसक तरीकों का परित्याग बचाव की क्रिया ही माना जाएगा—उसे हिंसा नहीं माना जाना चाहिए, क्योंकि हिंसा मूलतः एक आक्रामक मनोवृत्ति है। हम एक शल्य चिकित्सक के चाकू और कातिल के चाकू को एक श्रेणी में नहीं रख सकते, क्योंकि दोनों के मनोभावों में बुनियादी फर्क है। एक का मनोभाव दूसरे पक्ष को जीवन देने वाला है और उसमें करुणा प्रमुख है, जबकि दूसरे का मनोभाव आक्रामक और क्रोध से भरा है। कुछ आधुनिक विचारक मानते हैं कि शोषित की घृणा उसे संगठित करती और हिंसा उसमें आत्मविश्वास पैदा करती है, लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि घृणा और आक्रामकता के मनोभाव अपने को पहचानने और मानवत्व के अर्जन में बाधक होते हैं। ऐसे मनोभावों के आधार पर किसी स्वस्थ समाज की नींव नहीं रखी जा सकती।

इसलिए जरूरी यह है कि यदि कभी हिंसा का सहारा लेना भी पड़ जाए—यद्यपि अपवाद रूप में ही और वह भी अहिंसक और लोकतांत्रिक रास्तों के पूर्णतया बंद कर दिए जाने पर—तो उसकी पृष्ठभूमि में घृणा की वृत्ति नहीं होनी चाहिए। वह हिंसा शल्य चिकित्सक की हिंसा ही हो, कातिल की नहीं। लोकतांत्रिक पद्धति से कानून का सहारा लेकर भी शोषण-उत्पीड़न को मिटाया जा सकता है और कानून या राजसत्ता के दबाव को भी हिंसा माना जा सकता है, लेकिन यदि आक्रामकता के भाव के साथ नहीं, बल्कि बचाव के साधन की तरह इस्तेमाल किया जाए तो उसे हिंसा कहना अनुचित होगा। हिंसा मूलतः एक मनोवृत्ति है, अतः यदि कर्म इस मनोवृत्ति से प्रेरित न होकर सुधार या करुणा की भावना से प्रेरित है तो उसे सभ्य आचरण की परिधि में ही स्वीकार करना होगा। राजनीतिक आचरण में भी हिंसा-अहिंसा के सवाल को इसी कसौटी पर परखना उचित होगा। तभी राजनीतिक आचरण मानवीय चेतना के विकास में कोई सार्थक भूमिका अदा कर सकता है।

जब हम कहते हैं कि मनुष्य विकास प्रक्रिया का एक स्तर है तब उसका एक अर्थ यह भी होता है कि वह विकासशील चेतना है, क्योंकि चेतना जीवन का ही गुणोत्कर्ष है और इसलिए जीवन की विकास प्रक्रिया का एक अर्थ चेतना का विकास हो जाता है—खास तौर पर मनुष्य के संदर्भ में। आत्मरक्षा जीवन की सहज प्रवृत्ति है, लेकिन चेतना का विकास होने पर आत्म का दायरा विस्तृत होता जाता है क्योंकि अपने और शेष जीवन के बीच एक तात्त्विक ऐक्य का भाव विकसित हो जाता है। संतान, परिवार, जाति, धर्म, वर्ग, राष्ट्र आदि इसी आत्म के विस्तार के दायरे हैं। और दायरे हैं, इसलिए इनके द्वारा होने वाली आत्म की पहचान और इनके माध्यम से संपूर्ण जीवन से

जुड़ने की एक सीमा है, जिसे न समझ सकने पर आत्म का विस्तार और उसकी पहचान बाधित होती है। तब वह न केवल निर्दोष सत्य नहीं हो सकती, बल्कि कई बार उसी को अंतिम मान लेने पर एक आत्मप्रवंचना भी हो जाती है और इस प्रकार जीवन और चेतना के विकास में बाधक भी हो जाती है। नस्लवाद, राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद आदि के कारण इतिहास में जो-कुछ अमानवीय घटित होता है, वह इसी दृष्टिभ्रम का परिणाम है। यह दृष्टिभ्रम जब मनुष्य के भीतर छिपे पशु के साथ मिल जाता है तो इतिहास के मंच पर हिंसाकांड घटित होने लगता है जो अनिवार्यरूपेण विनाशकारी और इसलिए विकास विरोधी है।

पशु में हिंसा इसलिए है कि वह शेष जीवन के साथ उस तरह के अस्तित्वगत ऐक्य का अनुभव नहीं कर सकता जो मनुष्य कर सकता है। इसलिए हिंसा की वृत्ति को पाशविक वृत्ति कहा गया है। जो लोग मानव जीवन में हिंसा के अनिवार्य प्रयोग पर बल देते हैं, वे भी यह तो मानते हैं कि यह एक पाशविक वृत्ति है लेकिन उनकी राय में इसके बिना काम चल नहीं सकता है। क्रांति के प्रसंग में जब हिंसा के औचित्य की बात की जाती है, तब भी यही कहा जाता है कि साध्य के आधार पर साधन की पवित्रता को आंकना चाहिए। इसी में क्या यह भाव नहीं निहित है कि हिंसा है तो अनुचित पर यदि किसी अच्छे उद्देश्य के लिए उसका उपयोग करना पड़े, तो वैसा किया जा सकता है? इसका सीधा मतलब यह तो है ही कि हिंसा अपने-आप में कोई अच्छी प्रवृत्ति नहीं होती।

इससे भी यह तो तय हो ही जाता है कि हिंसा की प्रवृत्ति अपने-आप में एक अमानवीय प्रवृत्ति है जो जीवन और चेतना की विरोधी, बल्कि उनके विनाश की ओर उन्मुख प्रवृत्ति है और यदि कभी हिंसा को स्वीकार किया भी जाता है तो एक प्रवृत्ति के रूप में नहीं, बल्कि किसी हिंसा का ही विरोध करने के अंतिम अस्त्र के रूप में—यद्यपि इस पर विचार की गुंजाइश फिर भी बनी रहती है कि किस स्थिति में हम इस अस्त्र का उपयोग करें। कुछ लोग तो फिर भी यह आपत्ति उठा सकते हैं कि किसी भी स्थिति में इसका उपयोग उचित नहीं कहा जा सकता—लेकिन इन सवालों पर बहस को फिर कभी के लिए छोड़कर पहले हम मूल बात पर विचार करें।

हिंसा अमानवीय और जीवन तथा चेतना की विरोधी प्रवृत्ति है, इसी से यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि मूलतः अहिंसा एक ऐसी मानवीय प्रवृत्ति है जो न केवल मनुष्य को पाशविकता के स्तर से ऊपर उठाती है बल्कि उसे पूरे जीवन के साथ अस्तित्वगत ऐक्य का अनुभव करवाती है। यही भाव अहिंसा का मूल भाव है और चेतना के विकास का मतलब इस मूल भाव का गुणोत्कर्ष होते जाना है। इसलिए अहिंसा कोई निषेधात्मक विचार नहीं, बल्कि यह मनुष्य होने की मूल शर्त है। जो लोग यह कहते हैं कि हिंसा मनुष्य के स्वभाव में है, वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य अभी भी विकास की प्रक्रिया का एक स्तर है और आगे का विकास हिंसा पर नहीं, अहिंसा के भाव पर आधारित है। मनुष्य नाम का जीव जितना अधिक अहिंसक होता जाएगा, उतना ही वह आर्थी संदर्भ में मनुष्य होता जाएगा और उसी में से उसके भावी विकास की दिशा भी खुलेगी। हिंसा विकासशील मनुष्य में छिपे पशु का स्वभाव हो सकती है, पर मनुष्य का मूल स्वभाव नहीं हो सकती। मनुष्य का मूल स्वभाव तो अहिंसा ही रही है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि चेतना के विकास का अर्थ है मनुष्य का निरंतर अहिंसक होते जाना—निषेधात्मक नहीं विधायी अर्थों में। जीवन मात्र के, अस्तित्व मात्र के प्रति लगाव, प्रेम, करुणा, अनुकंपा का भाव और उसका सूक्ष्मतर बोध अहिंसा के भाव की ही गुणाभिव्यक्तियां हैं। अहिंसक होना ही वास्तविक अर्थों में मनुष्य होना और जीवन के विकास की गति में सार्थक भूमिका निभाना है।

लेकिन जब हम हिंसा या अहिंसा की बात करते हैं, तो अक्सर उसका संदर्भ बहुत स्थूल और दैहिक होता है। हिंसक मनुष्य भी केवल हिंसक नहीं है—वह मनुष्य भी है, इसलिए बुद्धि का उपयोग भी करता है और यदि उसके उपयोग की प्रेरणा हिंसा की प्रवृत्ति हो, तो उसके लिए बहुत सूक्ष्म और बौद्धिक तरीके भी ईजाद करता है। इसलिए हिंसा सिर्फ व्यक्तिगत प्रवृत्ति ही नहीं रहती, बल्कि अक्सर पूरे समाज के आचरण में भी प्रतिबिंबित होती है। जाति, नस्ल, वर्ग, राष्ट्र, धर्म आदि के आधार पर अपने को श्रेष्ठ समझना और दूसरे पक्ष से संबंधित व्यक्ति को अपने से ओछा या नीचा समझना हिंसा का ही सूक्ष्म रूप है। इसलिए दैहिक बल प्रयोग नहीं, राजनीतिक दमन, आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न भी हिंसा की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। इस तर्क के आधार पर जाति, नस्ल, संप्रदाय, राष्ट्र आदि की अन्य से श्रेष्ठता की भावना भी कहीं गहरे में हिंसा की वृत्ति से प्रेरित और उसे ही पुष्ट करने वाली भावना है। आधुनिक संदर्भों में तो राजनीतिक संगठनों तक को लेकर भी अपनी श्रेष्ठता और दूसरों के ओछेपन की भावना तीव्रतर होती जा रही है और आए दिन सड़कों पर विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं में मुठभेड़ों और दलों के नेताओं द्वारा दूसरों के प्रति घृणापूर्ण भाषा के प्रयोग

शेष पृष्ठ 16 पर

जब हम भगवान महावीर के युग पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि वह युग भी आज के युग की भांति अत्यंत बौद्धिक-कोलाहल का युग था। हमारा आज का युग अध्यात्म, मोक्ष आदि पारलौकिक चिंतन के प्रति विरक्त ही नहीं, अनास्थावान भी है। भगवान महावीर के युग में भी भौतिकवादी एवं संशयमूलक जीवन-दर्शन के मतानुयायी चिंतकों ने समस्त धार्मिक मान्यताओं, चिरसंचित आस्था एवं विश्वास के प्रति प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिए थे। पूरणकस्सप, मक्खलि गोशालक, अजितकेशकंबलि, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त आदि के विचारों को पढ़ने पर हमको आभास होता है कि युग के जन-मानस को संशय, त्रास, अविश्वास, अनास्था, प्रश्नाकुलता आदि वृत्तियों ने किस सीमा तक आबद्ध कर लिया था। पूरणकस्सप एवं पकुध कच्चायन—दोनों आचार्यों ने आत्मा की स्थिति तो स्वीकार की थी, किंतु 'अक्रियावादी' दर्शन का प्रतिपादन करने के कारण इन्होंने सामाजिक जीवन में पाप-पुण्य की सभी रेखाएं मिटाकर अनाचार एवं हिंसा के बीजों का वपन कर दिया था। पूरणकस्सप प्रचारित कर रहे थे कि आत्मा कोई क्रिया नहीं करती, शरीर करता है और इस कारण किसी भी प्रकार की क्रिया करने से न पाप होता है, न पुण्य।

महावीर का चिंतन और वर्तमान परिस्थितियां

❑ रजनीश शुक्ल ❑

तीर्थंकर महावीर के सिद्धांत समग्र मानवीय जीवन दर्शन या जीवन-संस्कृति से अनुप्राणित हैं, जो मुख्यतया अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकांत की त्रयी पर आधारित हैं। महावीर के अनुसार दृष्टिनिपुणता तथा सभी प्राणियों के प्रति संयम ही अहिंसा है। दृष्टिनिपुणता का अर्थ है सतत जागरूकता तथा संयम का अर्थ है—मन, वाणी और शरीर की क्रियाओं का नियमन। जीवन के स्तर पर जागरूकता का अर्थ तभी सार्थक होता है—जब उसकी परिणति संयम हो। संयम का लक्ष्य तभी सिद्ध हो सकता है—जब जागरूकता के साथ उसका सतत दिशानिर्देश होता रहे। लक्ष्यहीन और दिग्भ्रष्ट संयम अर्थहीन काय-क्लेश मात्र बनकर रह जाता है।

महावीर के सिद्धांतों में प्रतिबिंबित श्रमण संस्कृति के संदर्भ में, ज्ञानदृष्टि के आधार पर जीवनचर्या का संयमन ही तात्त्विक संयम है। जीवनचर्या के संयमन के बिना मानव जाति में एकता की प्रतिष्ठा तथा विलास-वैभव का नियंत्रण संभव नहीं। एकता और समता, संयम और नियंत्रण के अभाव में हिंसा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे आम जन का दुख बढ़ता है। इसलिए महावीर ने दूसरे के दुख को दूर करने की वृत्ति को अहिंसा कहा है। महावीर के सिद्धांतों से मानवजाति को एकता का संदेश मिला है तथा अनुध्वनित अपरिग्रह एवं अहिंसा के संदेश वर्तमान आर्थिक एवं सामाजिक आकांक्षाओं से मनुष्य को ऊपर उठाने में अधिकाधिक उपयोगी हो सकते हैं। महावीर ने अपरिग्रह व्रत पर इसलिए बल दिया था कि वे जानते थे कि आर्थिक असमानता और आवश्यक वस्तुओं का अनुचित संग्रह सामाजिक जीवन को विघटित करने वाला है। महावीर ने ऐसे समाजघाती परिग्रहवाद के विरोध में आवाज उठाई और अपरिग्रह के सामाजिक मूल्य की स्थापना की। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अर्थात् जीवों के प्रति परस्पर उपकार की भावना ही उनकी जीवन साधना का लक्ष्य था और इसका प्रतिफलन उनके मूल्यवान सिद्धांतों में हुआ है।

वर्तमान विश्व के सामने आज जो समस्याएं हैं, भगवान महावीर के युग में भी लगभग वही थीं। तब भी नारी व पुरुष के बीच विषमता थी, समृद्धि और गरीबी के बीच गहरी खाई थी। क्षुद्र स्वार्थ के लिए हिंसा और दमन का प्रयोग होता था, शस्त्र और शास्त्रों के धारक केवल अपने को ही शक्तिशाली मानते थे। विचारों की अशुद्धि व संकीर्णता ने पूरे वातावरण को प्रदूषित कर रखा था। यद्यपि भगवान महावीर की साधना इन सब सांसारिक और क्षुद्र

समस्याओं के निराकरण के उद्देश्य से नहीं थी, किंतु उन्होंने अपने चिंतन की जो रश्मियां फैलाईं—उनमें आत्मा का परमतत्त्व तो दीखा ही, इन सामाजिक समस्याओं के अंधकार भी तिरोहित होते नजर आए। प्रत्येक वर्ग को लगा कि भगवान महावीर का चिंतन व्यक्ति के कल्याण के लिए भी है। भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म-दर्शन के चिंतन के कुछ बिंदुओं की प्रासंगिकता हम आधुनिक संदर्भ में भी देख सकते हैं।

जब हम भगवान महावीर के युग पर दृष्टिपात करते हैं तो पाते हैं कि वह युग भी आज के युग की भांति अत्यंत बौद्धिक-कोलाहल का युग था। हमारा आज का युग अध्यात्म, मोक्ष आदि पारलौकिक चिंतन के प्रति विरक्त ही नहीं, अनास्थावान भी है। भगवान महावीर के युग में भी भौतिकवादी एवं संशयमूलक जीवन-दर्शन के मतानुयायी चिंतकों ने समस्त धार्मिक मान्यताओं, चिरसंचित आस्था एवं विश्वास के प्रति प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिए थे। पूरणकस्सप, मक्खलि गोशालक, अजितकेशकंबलि, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त आदि के विचारों को पढ़ने पर हमको आभास होता है कि युग के जन-मानस को संशय, त्रास, अविश्वास, अनास्था, प्रश्नाकुलता आदि वृत्तियों ने किस सीमा तक आबद्ध कर लिया था। पूरणकस्सप एवं पकुध कच्चायन—दोनों आचार्यों ने आत्मा की स्थिति तो स्वीकार की थी, किंतु 'अक्रियावादी' दर्शन का प्रतिपादन करने के कारण इन्होंने सामाजिक जीवन में पाप-पुण्य की सभी रेखाएं मिटाकर अनाचार एवं हिंसा के बीजों का वपन कर दिया था। पूरणकस्सप प्रचारित कर रहे थे कि आत्मा कोई क्रिया नहीं करती, शरीर करता है और इस कारण किसी भी प्रकार की क्रिया करने से न पाप होता है, न पुण्य। पकुध कच्चायन ने बताया कि 1. पृथ्वी 2. जल 3. तेज 4. वायु 5. सुख 6. दुख एवं 7. जीवन—ये सात पदार्थ अकृत, अनिर्मित, अवध्य, कूटस्थ एवं अचल हैं। इस मान्यता के आधार पर वे यह स्थापना कर रहे थे कि जब ये अवध्य हैं तो कोई हंता नहीं हो सकता, 'यदि तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा किसी को काट भी दिया जाए तो भी वह किसी को प्राण से मारना नहीं कहा जा सकता।' अजितकेशकंबलि पुनर्जन्मवाद पर प्रहार कर आस्तिकवाद को झूठा ठहरा रहे थे तथा भौतिकवादी विचारधारा का निरूपण करने के लिए इस सिद्धांत की स्थापना कर रहे थे कि 'मूर्ख और पंडित, सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं।'

भगवान महावीर के समकालिक आचार्य मक्खलि गोशालक की परंपरा को आजीवक या आजीविक कहा गया है। 'मज्झिमनिकाय' में इनकी जीवन-दृष्टि को 'अहेतुकदिट्ठि' अथवा 'अकिरियादिट्ठि' कहा गया है। इस प्रकार उनके मत में व्यक्ति की इच्छाशक्ति का अपना कोई महत्त्व नहीं है। नियतिवादी होने के कारण गोशालक प्रचारित कर रहे थे कि जीवन-मरण, सुख-दुख, हानि-लाभ, अनतिक्रमणीय हैं, इन्हें टाला नहीं जा सकता—वह होकर ही रहता है। संजय बेलट्ठिपुत्त अनिश्चय एवं संशय के चारों ओर चक्कर काट रहे थे। इनके अनुसार अयोनिज प्राणी, शुभाशुभ कर्मों के फल आदि के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

महावीर : मानवीय सौहार्द के आलोक

इस प्रकार जिस समय दर्शन के क्षेत्र में चारों ओर घोर संशय, अनिश्चय, तर्क-वितर्क, प्रश्नाकुलता व्याप्त थी, आचारमूलक सिद्धांतों की अवहेलना एवं उनका तिरस्कार करने वाले चिंतकों के स्वर सुनाई दे रहे थे, मानवीय सौहार्द एवं कर्मवाद के स्थान पर घोर भोगवादी, अक्रियावादी एवं उच्छेदवादी वृत्तियां पनप रही थीं, जीवन का कोई पथ स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहा था—उस समय भगवान महावीर ने प्राणीमात्र के कल्याण के लिए, अपने ही प्रयत्नों द्वारा उच्चतम विकास कर सकने का आस्थापूर्ण मार्ग प्रशस्त कर—अनेकांतवाद, स्याद्वाद, अपरिग्रहवाद एवं अहिंसावाद आदि का संदेश देकर नवीन आलोक प्रस्फुटित किया।

भौतिक विज्ञान की उन्नति

आज भौतिक विज्ञान की उन्नति मानवीय चेतना को जिस स्तर पर ले गई है, वहां उसने हमारी मान्यताओं पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिए हैं। प्राचीन मूल्यों के प्रति मन में विश्वास नहीं रहा है। महायुद्धों की आशंका, आणविक युद्धों की होड़ और यांत्रिक जड़ता ने हमें एक ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया है जहां सुंदरता भी भयानक हो गई है। डब्ल्यु.बी.ईट्स की पंक्तियां शायद इसी परिवर्तन को लक्ष्य करती हैं—

All changed, changed utterly, A terrible beauty is born.

वैज्ञानिक उन्नति की चरम संभावनाओं से चमत्कृत एवं औद्योगीकरण की प्रक्रिया से गुजरने व पलने वाला आज का आदमी इलियट के वेस्टलैंड के निवासी की भांति जड़वत एवं यंत्रवत होने पर विवश होता जा रहा है।

रूढ़िगत धर्म के प्रति आज का मानव किंचित भी विश्वास जुटा नहीं पा रहा है। समाज में परस्पर घृणा,

अविश्वास, अनास्था एवं संत्रास के वातावरण के कारण आज अनेक मानवीय समस्याएं उत्पन्न होती जा रही हैं। आर्थिक अनिश्चयात्मकता, अराजकता, आत्मग्लानि, व्यक्तिवादी आत्मविद्रोह, जीवन की लक्ष्यहीन समाप्ति आदि प्रवृत्तियों से आज का युग ग्रसित है। कोटि-कोटि जन—जिन्हें युगों-युगों से समस्त मानवीय अधिकारों से वंचित रखा गया है—आज भाग्यवाद एवं नियतिवाद के सहारे मौन होकर बैठ जाना नहीं चाहते, अपितु संपूर्ण व्यवस्था पर हथौड़ा चलाकर उसे नष्ट कर देना चाहते हैं।

अस्तित्ववादी चिंतन

परंपरागत जीवन-मूल्यों को तोड़ने की उद्देश्यगत समानता के होते हुए भी भगवान महावीर के पूर्ववर्ती एवं समसामयिक अक्रियावादी चिंतन एवं आधुनिक अस्तित्ववादी चिंतन में बहुत अंतर है। अस्तित्ववादी चिंतन ने मानव-व्यक्ति के संकल्प—स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्माण के लिए स्व-प्रयत्नों एवं कर्मगत महत्त्व का प्रतिपादन, कर्मों के प्रति पूर्ण दायित्व की भावना एवं व्यक्तित्व की विलक्षणता, गरिमा एवं श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। अस्तित्व-संपन्न मानव अपने ऐतिहासिक विकास के अनिर्दिष्ट, अज्ञेय मार्ग को मापता चलता है।

आज का व्यक्ति स्वतंत्र होने के लिए अभिशापित है। आज व्यक्ति परावलंबी होकर नहीं, स्वतंत्र निर्णयों के द्वारा विकास करना चाहता है। सार्त्र का अस्तित्ववाद ईश्वर का निषेध करता है और मानव को ही अपने भविष्य का निर्माता भी स्वीकार करता है। यह चिंतन महात्मा बुद्ध के 'अत्ता ही अत्तनो नाथो को ही नाथो परो सियो' अर्थात् आप ही अपना स्वामी है, दूसरा कौन स्वामी हो सकता है। अस्तित्ववादी दर्शन यह मानता है कि मनुष्य का स्रष्टा ईश्वर नहीं है और इसीलिए मानव-स्वभाव, उसका विकास, उसका भविष्य भी निश्चित एवं पूर्व मीमांसित नहीं है। मनुष्य वह है—जो अपने-आप को बनाता है।

आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए जैन दर्शन में भी कहा गया है—

> अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य।
> अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ।।
>
> उत्तराध्ययन सूत्र 20 : 37

आत्मा ही दुख एवं सुख का कर्ता या विकर्ता है। सुमार्ग पर चलने से आत्मा मित्र एवं कुमार्ग पर चलने पर वही शत्रु होती है।

मानव को महत्त्व देते हुए भी सार्त्र सामाजिक दर्शन के धरातल पर अत्यंत अव्यावहारिक है, क्योंकि वह मानता है कि चेतनाओं के पारस्परिक संबंधों की आधारभूमि सामंजस्य नहीं, विरोध है तथा अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व-वृत्त हमारे अस्तित्व-वृत्तों की परिधियों के मध्य आकर संघर्ष, भय, घृणा आदि भावों के उद्भावक एवं प्रेरक बनते हैं। सार्त्र इसी कारण वास्तविक संसार को असंगत, अव्यवस्थित, अवधारित और अज्ञेय मानता है। यही कारण है कि अपने को अपना स्वामी मानते हुए जहां गौतम बुद्ध स्वयं संयम के पथ से प्राणी को दुर्लभ स्वामी की प्राप्ति का निर्देश देते हैं, वहां सार्त्र व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य संघर्ष एवं अविश्वास की भूमिका बनाता है।

मानव मूल्यों की स्थापना

यदि हमें मानव के अस्तित्व को बनाए रखना है तो हमें मानवीय मूल्यों की स्थापना करनी होगी, सामाजिक सौहार्द एवं बंधुत्व का वातावरण निर्मित करना होगा, दूसरों को समझने और पूर्वाग्रहों से रहित मनःस्थिति में अपने को समझाने के लिए तत्पर होना होगा, भाग्यवाद के स्थान पर कर्मवाद की प्रतिष्ठा करनी होगी, उन्मुक्त दृष्टि से जीवनोपयोगी दृष्टि का निर्माण करना होगा। आज वही धर्म और दर्शन हमारी समस्याओं का समाधान कर सकता है जो उन्मुक्त दृष्टि से विचार करने की प्रेरणा दे सके। शास्त्रों में यह बात कही गई है—केवल इसी आधार पर आज का मानव एवं विशेष रूप से बौद्धिक समुदाय एवं युवजन उसे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। दर्शन में ऐसे व्यापक तत्त्व होने चाहिएं जो तार्किक एवं बौद्धिक व्यक्ति को संतुष्ट कर सकें। आज का मानव केवल श्रद्धा, संतोष और अंधी आस्तिकता के सहारे किसी बात को मानने के लिए तत्पर नहीं होगा।

आज के भौतिकवादी युग में केवल वैराग्य से काम चलने वाला नहीं है। आज हमें मानव के भौतिकवादी दृष्टिकोण को सीमित करना होगा, भौतिक स्वार्थपरक इच्छाओं को संयमित करना होगा, मन की कामनाओं में परमार्थ का रंग मिलाना होगा। आज यौवन और ज्ञान व भौतिकता और आध्यात्मिकता के समत्व की आवश्यकता है। इसके लिए धर्म एवं दर्शन की वर्तमान सामाजिक संदर्भों के अनुरूप एवं भावी मानवीय चेतना के नियामक रूप में व्याख्या करनी है। इस संदर्भ में आध्यात्मिक साधना के ऋषियों एवं मुनियों की धार्मिक साधना एवं गृहस्थ-सामाजिक व्यक्तियों की धार्मिक साधना के अलग-अलग स्तरों को परिभाषित करना आवश्यक है।

धर्म-दर्शन का स्वरूप

धर्म एवं दर्शन का स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो कि वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिकों की प्रतिपत्तियों को खोजने का मार्ग एवं धार्मिक मनीषियों एवं दार्शनिक तत्त्वचिंतकों की खोज का मार्ग अलग-अलग हो सकता है, किंतु उनके सिद्धांतों एवं मूलभूत प्रत्ययों में विरोध नहीं होना चाहिए।

आज ऐसे धर्म एवं दर्शन की आवश्यकता है जो समाज में परस्पर सामाजिक सौहार्द एवं बंधुत्व का वातावरण निर्मित कर सकें। यदि यह न हो सका तो किसी भी प्रकार की व्यवस्था एवं शासन-पद्धति से समाज में शांति स्थापित नहीं हो पाएगी।

इस दृष्टि से यह विचार करना है कि भगवान महावीर ने 26सौ वर्ष पूर्व अनेकांतवादी चिंतन पर आधारित अपरिग्रहवाद एवं अहिंसावाद से संयुक्त जिस ज्योति को जगाया था, उसका आलोक हमारे आज के अंधकार को दूर कर सकता है या नहीं? आधुनिक वैज्ञानिक एवं बौद्धिक युग में वही धर्म एवं दर्शन व्यापक हो सकता है जो मानव मात्र को स्वतंत्रता एवं समता की आधारभूमि प्रदान कर सकेगा। इस दृष्टि से भारत में विचार एवं दर्शन के धरातल पर जितनी व्यापकता, सर्वांगीणता एवं मानवीयता की भावना रही है; समाज के धरातल पर वह नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से यहां यह माना गया है कि जगत में जो-कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब एक ही ईश्वर में व्याप्त है—

ॐ ईशावास्यमिदं सर्व यत्किंच जगत्यां जगत्

—ईशावास्योपनिषद्

पंडित एवं विद्वान की कसौटी यह मानी गई कि उसे संसार के सभी प्राणियों को अपने समान मानना चाहिए—'आत्मवत सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः'।

भक्ति का विकास

भक्ति का मूल ही है—आराध्य की सेवा, शरणागति एवं आराधना। भक्ति में भक्त भगवान का अनुग्रह प्राप्त करना चाहता है; बिना उसके अनुग्रह के कल्याण नहीं हो सकता। गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसी कारण लिखा कि जान वही सकता है जिसे वे अपनी कृपा द्वारा ज्ञान देते हैं—'सो जानई जेहि देहु जनाई'। भक्ति सिद्धांत में भी साधक अपनी साधना के बल पर मुक्ति का अधिकार प्राप्त नहीं कर पाता, इसलिए उस पर भगवत्कृपा होना जरूरी है।

जैन दर्शन प्रजातंत्रात्मक मूल्यों का वाहक

जैन दर्शन समाज के प्रत्येक मानव के लिए समान अधिकार जुटाता है। सामाजिक समता, एकता की दृष्टि से श्रमण परंपरा का अप्रतिम महत्त्व है। इस परंपरा में मानव को मानव के रूप में देखा गया है; वर्णों, वादों, संप्रदायों आदि का 'लेबल' लगाकर मानव-मानव को बांटने वाले दर्शन के रूप में नहीं। मानव-महिमा का जितना जोरदार समर्थन जैन दर्शन में हुआ है—वह अनुपम है। भगवान महावीर ने जातिगत श्रेष्ठता को कभी आधार नहीं बनाया।

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणां, कुसचीरेण न तावसो।।

—उत्त. 25:29

अर्थात् केवल सर मुंडा लेने से कोई श्रमण नहीं होता, ओम का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नहीं होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नहीं होता। दूसरों की निंदा, अपनी प्रशंसा, अपने असद्गुणों और दूसरों के सद्गुणों को ढांकना तथा स्वयं के अस्तित्वहीन सद्गुणों को प्रकट करना नीच-गोत्र की स्थिति के कारण बनते हैं—

'परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणाच्छादनोद्भावने
च नीचैर्गोत्रस्य'

—तत्त्वार्थसूत्र 6/25

इस प्रकार जैन दर्शन में यह मार्ग बतलाया गया है, जिसमें व्यक्ति अपने बल पर उच्चतम विकास कर सकता है। प्रत्येक आत्मा अपने बल पर परमात्मा बन सकती है।

उपनिषदों में जिस 'तत्त्वमसि' सिद्धांत का उल्लेख हुआ है, उसी का जैन दर्शन में नवीन आविष्कार एवं विकास है एवं प्राणी मात्र की पूर्ण स्वतंत्रता, समता एवं स्वावलंबित स्थिति का दिग्दर्शन कराया गया है।

जैन दर्शन अनेकांतवादी दृष्टि पर आधारित होने के कारण किसी विशेष आग्रह से अपने को युक्त नहीं करता। सत्यानुसंधान एवं सहिष्णुता अनेकांतवादी दृष्टि की पहली शर्त है। पक्षपात-रहित व्यक्ति की बुद्धि विवेक का अनुगमन करती है। आग्रही पुरुष तो अपनी प्रत्येक युक्ति को वहां ले जाता है, जहां उसकी बुद्धि सन्निविष्ट रहती है—

आग्रही वत् निनीषति युक्तिं तत्र यत्र पतिरस्य निविष्टा।
पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र पतिरेति निवेशम्।।

—हरिभद्र

आज के युग में भौतिकवादी वैज्ञानिक दर्शन एवं आध्यात्मिक दर्शन के सम्मिलन की अत्यधिक आवश्यकता है। इस दृष्टि से दर्शन के अद्वैत एवं विज्ञान के सापेक्षवाद की सम्मिलन भूमि जैन दर्शन का अनेकांत हो सकती है।

इस प्रकार भगवान महावीर ने जिस जीवन दर्शन को प्रतिपादित किया है, वह आज के जीवन की मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक—दोनों प्रकार की समस्याओं का अहिंसात्मक पद्धति से समाधान प्रस्तुत करता है। यह दर्शन आज की प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था एवं वैज्ञानिक सापेक्षवादी चिंतन के भी अनुरूप है। इस संबंध में सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का यह वाक्य कि 'जैन दर्शन सर्वसाधारण को पुरोहित के समान धार्मिक अधिकार प्रदान करता है' अत्यंत संगत एवं सार्थक है। 'अहिंसा परमो धर्मः' को चिंतन-केंद्र मानने पर ही संसार से युद्ध एवं हिंसा का वातावरण समाप्त हो सकता है। आदमी के भीतर की अशांति, उद्वेग एवं मानसिक तनावों को दूर करना है तथा अंततः मानव के अस्तित्व को बनाए रखना है तो भगवान महावीर की वाणी की वर्तमान-युगीन समस्याओं एवं परिस्थिति के संदर्भ में व्याख्या करनी होगी। यह ऐसी वाणी है जो मानव मात्र के लिए समान मानवीय मूल्यों की स्थापना करती है, सापेक्षवादी-सामाजिक-संरचनात्मक व्यवस्था का चिंतन प्रस्तुत करती है; पूर्वाग्रह-रहित उन्मुक्त दृष्टि से दूसरों को समझने एवं अपने को समझाने के लिए अनेकांतवादी जीवन-दृष्टि प्रदान करती है, समाज के प्रत्येक सदस्य को समान अधिकार एवं स्व-प्रयत्न से विकास करने के समान साधन जुटाती है।

महावीर के दर्शन-क्रियान्वयन से परस्पर सहयोग, सापेक्षता, समता एवं स्वतंत्रता के आधार पर समाज संरचना संभव हो सकेगी; समाज को जिन वर्गों, वादों, वर्णों, जातियों एवं उपजातियों में साग्रह बांट दिया गया था, वे भेद के बंधन टूट सकेंगे। भारत में आज भी सांप्रदायिक उन्माद हो रहे हैं। धर्म के नाम पर ही इस देश का विभाजन हुआ और आज भी विभाजन की मांग प्रतिदिन उठती रहती है। कहना न होगा कि सांप्रदायिक संकीर्णता ही वैचारिक असहिष्णुता को उभारती है। इस संदर्भ में भगवान महावीर के अनेकांतवाद का सिद्धांत आधुनिक समाजवादी-धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के निकटवर्ती होने के साथ ही वैयक्तिक तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय विचारों को स्वस्थ बनाने में ततोऽधिक प्रभावकारी है। वस्तुतः आज भी महावीर के सिद्धांत भावी विनाश से हमारी रक्षा कर सकते हैं, इसलिए इनकी प्रासंगिकता निर्विवाद है। ❖

अहिंसा की राजनीति...पृष्ठ 11 का शेष

के द्वारा ऐसी घटनाओं को और प्रोत्साहित किया जाना इसी प्रवृत्ति के बहुत सामान्य परिणाम हैं।

हम उसी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था को उचित कह सकते हैं जो मनुष्य के अर्थात् चेतना के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की भूमिका निभा सके। दूसरे शब्दों में, इस पूरी व्यवस्था का भी आधार विधायी अर्थों में अहिंसा को ही होना चाहिए। तभी विकास की प्रक्रिया में मनुष्य एक चेतन प्राणी होने के नाते अपने उत्तरदायित्व को निभा पाएगा। यदि वह इस उत्तरदायित्व को नहीं निभाता है तो जैविक स्तर पर तो मनुष्य कहला सकता है, लेकिन सांस्कृतिक और मूल्यगत स्तर पर नहीं। विकास की प्रक्रिया बड़ी धीमी, जटिल और भटकावों से भरी है। यदि आज हमारी व्यवस्था या हमारी प्रवृत्ति इस दिशा की ओर उन्मुख नहीं है, तो यही मानना होगा कि वह मानवीय इतिहास की एक और भटकन है।

स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व—ये तीनों प्रेरक सिद्धांत मूलतः अहिंसा के सिद्धांत के ही विभिन्न रूप हैं, चाहे फ्रांसीसी क्रांति में इनके स्फोट का संदर्भ हिंसापूर्ण ही रहा हो। यही कारण है कि लोकतंत्र, समाजवाद और अंतरराष्ट्रीयता या वैश्विकता की धारणाएं बुनियादी रूप में एक-दूसरे से जुड़ी धारणाएं हैं, क्योंकि उन सबका मूल उत्स अहिंसा की वह विधायी प्रवृत्ति है जो मनुष्य के वास्तविक अर्थों में मनुष्य हो सकने का मूल आधार है। यह ठीक है कि अभी इन सबके रूप पूर्ण तो क्या संतोषजनक भी नहीं हैं और दुनिया की अधिकांश आबादी अपने अस्तित्व की जैविक आवश्यकताओं के संघर्ष में ही इस तरह उलझी है कि अन्य बातों की ओर या तो ध्यान ही नहीं जाता या उन्हें बौद्धिक विलास मान लिया जा सकता है। लेकिन जैविक आवश्यकताओं के पूरा न हो सकने का भी एक मूल कारण क्या यही नहीं है कि चेतना को अपनी देह और संतान-परिवार से लेकर संप्रदाय और राष्ट्र तक के छोटे-बड़े दायरों में ही बांधा जाता रहा है? उसका सही अर्थों में वैश्विक बल्कि संपूर्ण अस्तित्व तक विस्तार नहीं हो पा रहा जो कि उसकी सही दिशा है। यह ठीक है कि यह सब तुरंत नहीं हो सकता। लेकिन आवश्यक यह है कि हम अपनी वर्तमान दिशा को पहचानें और यदि वह हमें मनुष्य होने और उससे आगे के विकास की ओर नहीं ले जा रही हो तो उसे बदल देने के लिए सचेष्ट हों। चेतना-संपन्न होते जाने के साथ ही यह जिम्मेदारी स्वयं मनुष्य पर ही आ जाती है कि वह अपने भावी विकास की दिशा को निर्धारित और उसकी प्रक्रिया को नियंत्रित करे। ❖

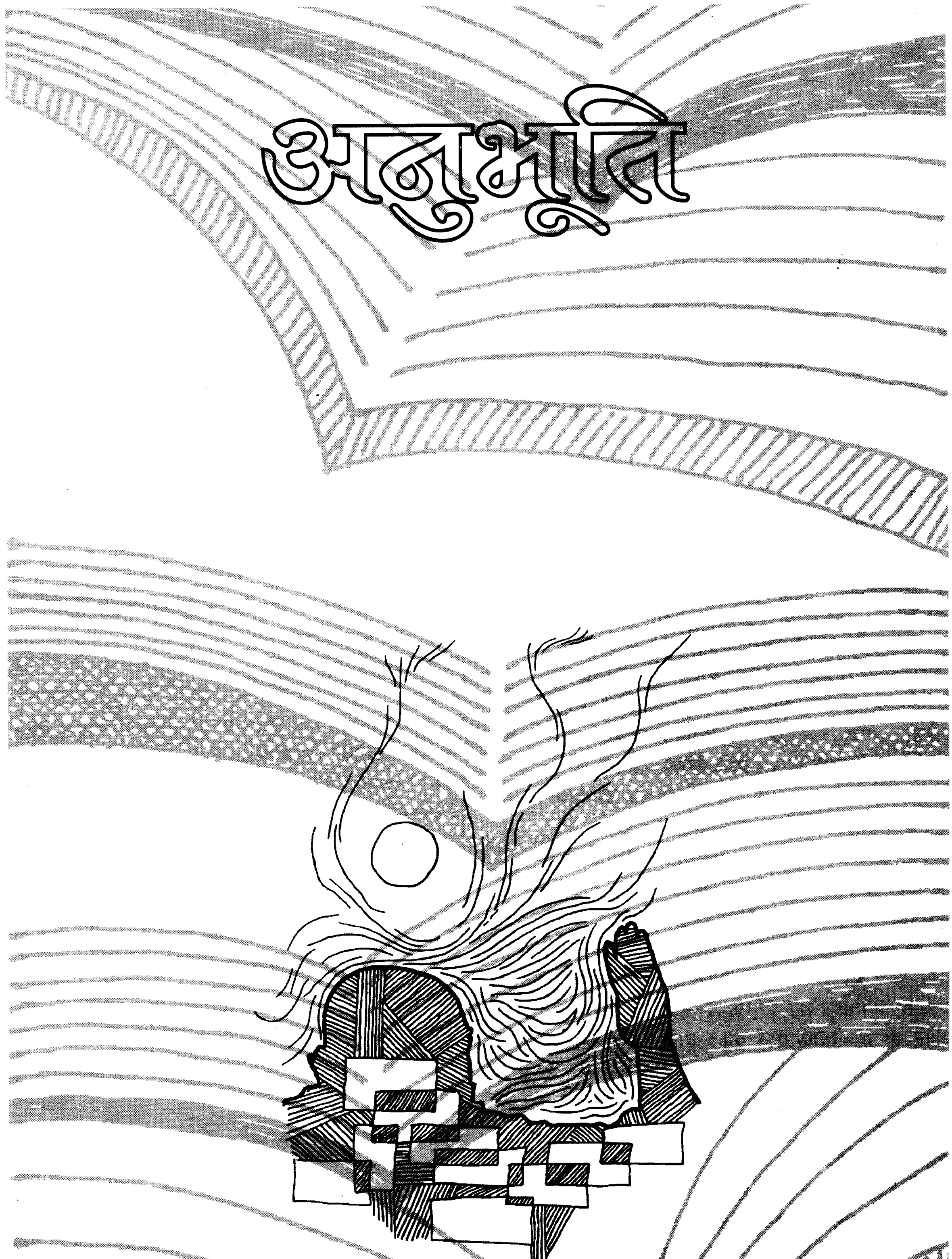
अनुभूति

आस्वादन का माध्यम प्याला है, तो इस प्याले में कौन महत्त्वपूर्ण है : प्याले की दीवार या खाली जगह? प्याले की दीवार? पर आस्वादन खाली जगह में भरे हुए चाय, दूध, मदिरा या शर्बत का होता है। खाली जगह ही तो रस की आधारभूमि बनती है। पर दूसरा सवाल यह है कि दीवार न रहे तो खाली जगह प्याला न होकर आकाश या शून्य देश मात्र रहेगा और रस को आधारित करने का व्यक्तित्व उसके पास नहीं होगा। प्रश्न बड़ा पेचीदा है। परंतु चीनी दार्शनिक का झुकाव शून्य स्थान की ओर है। वह कहता है कि प्याला माध्यम है। उसमें भी प्याले की दीवार माध्यम का साज है, उप-माध्यम है, मुख्य भूमिका तो शून्य स्थान की ही है। शून्य 'कर्म' के अनस्तित्व का प्रतीक है। शून्य तब होता है जब कर्म की गति समाप्त हो जाती है। शून्य स्थान अवकाश का प्रतीक है और उसके चारों ओर खड़ी दीवार कर्म का। चाहे प्याले में हो या जीवन में, सदैव खाली जगह, शून्य अवकाश या छुट्टी के भीतर लबालब भरे हुए चाय, दूध, मदिरा या जीवन के सुख-दुख का स्वाद हम निरंतर पाते रहते हैं। चारों ओर उठाई गई पत्थर की या कर्म की दीवार का कोई स्वाद नहीं।

—कुबेरनाथ राय

आचार्य भिक्षु ने यह स्वीकार किया कि साध्य और साधन—दोनों की शुद्धि हुए बिना धर्म नहीं हो सकता। इस सिद्धांत की व्याख्या में हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत विकसित हुआ। हृदय-परिवर्तन के लिए विराट प्रेम का होना जरूरी है। जिसके हृदय में क्रूरता छिपी रहती है, वह हृदय-परिवर्तन करने में सफल नहीं होता। गोकुलदास नानजीभाई गांधी ने लिखा है कि आचार्य भिक्षु का साध्य-साधन की शुद्धि और हृदय परिवर्तन का सिद्धांतबीज श्रीमद् राजचन्द्र के पास पहुंचा और श्रीमद् के माध्यम से वह महात्मा गांधी तक पहुंचा। मेरी दृष्टि में साधन-शुद्धि पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी ने जितना विशद चिंतन किया है, उतना अन्य चिंतकों ने नहीं किया।

तेरापंथ : निष्कर्म और निष्काम की फलश्रुति

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में एक विचार-क्रांति घटित हुई। फलस्वरूप आचार्य भिक्षु की प्रतिभा ने तेरापंथ को जन्म दिया। उस समय पूज्य रुघनाथजी स्थानकवासी परंपरा के सुप्रसिद्ध आचार्य थे। संत भीखणजी उनके पास दीक्षित हुए। कुछ विचार-भेद के कारण वे उस परंपरा से मुक्त हो गए। उनकी अंतर्मुखी वृत्ति, अनासक्ति, विरक्ति, तपस्या और चतुर्मुखी प्रतिभा से जनता आकर्षित हुई। तेरापंथ का उद्भव हो गया। जैन धर्म की दो मुख्य धाराएं—श्वेतांबर और दिगंबर पहले से प्रचलित थीं। श्वेतांबर शाखा में संवेगी और स्थानकवासी—ये दो प्रशाखाएं थीं। तेरापंथ के उद्भव के बाद तीन प्रशाखाएं हो गईं। शाखा-प्रशाखा का होना विकास का स्वाभाविक क्रम है। मेरी दृष्टि में शतशाखी वृक्ष विशाल और रमणीय होता है। तेरापंथ ने जैन परंपरा की विशालता और रमणीयता में वृद्धि की है। आचार्य भिक्षु ने जिस संगठन की स्थापना की, उसकी अपनी कुछ मौलिक विशेषताएं हैं। उसकी तीन मुख्य आधारशिलाएं हैं—(1) निष्कर्म, (2) हृदय-परिवर्तन और (3) सापेक्षता।

243वां तेरापंथ स्थापना दिवस

निष्कर्म

शरीर-धारण के लिए कर्म की अनिवार्यता है। शुद्ध चेतना के जागरण के लिए निष्कर्म की अनिवार्यता है। कर्म और निष्कर्म का संतुलन ही धर्म का मर्म है। जहां कोरा कर्म होता है, वहां स्पर्धा और संघर्ष के स्फुलिंग उछलते हैं। जहां कोरा निष्कर्म होता है—वहां संघ नहीं होता, परंपरा नहीं होती। परंपरा, संघ और साधना—तीनों की समन्विति के लिए कर्म और निष्कर्म—दोनों की समन्विति अपेक्षित है। आचार्य भिक्षु ने स्पर्धा और संघर्ष के वातावरण को देख निष्कर्म को प्रधानता दी। इसीलिए उनके अध्यात्मवादी या निवृत्तिपरक विचारों को समझने में कुछ कठिनाइयां हुई थीं। आचार्य कुंदकुंद की आध्यात्मिक परंपरा को आचार्य भिक्षु ने नए संदर्भ में उज्जीवित किया।

पद प्रतिष्ठा के लिए नहीं

स्थूल व्यवहार के स्तर पर चलने वाले लोग उसकी गहराई तक नहीं पहुंच सके। उन्हें वह धारा व्यवहार का उन्मूलन करने वाली लगी, इसलिए उसका विरोध भी हुआ। किंतु सचाई यह है कि आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ के माध्यम से अध्यात्म की तर्कशुद्ध पद्धति प्रस्तुत की।

आचार्य भिक्षु ने निष्कर्म को केवल सैद्धांतिक रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं किया, उसे व्यवस्था के स्तर पर भी प्रतिष्ठा दी। कर्म की बहुलता कामना की बहुलता से जुड़ी रहती है। निष्काम और निष्कर्म अलग-अलग नहीं होते। निष्कर्म होगा वहां निष्काम होगा और निष्काम होगा वहां निष्कर्म होगा। पद के लिए उम्मीदवार नहीं बनूंगा—यह व्यवस्था-सूत्र निष्कर्म और निष्काम— दोनों की फलश्रुति है। पद कार्य के लिए है, सेवा के लिए है, प्रतिष्ठा के लिए नहीं है—इस सिद्धांत के आधार पर तेरापंथ के चतुर्थ आचार्यश्री जयाचार्य ने पद के समर्पण की व्यवस्था की। अग्रणी साधु-साध्वी चातुर्मास के बाद आचार्य के पास

आए, तब पद का समर्पण कर दे—इस व्यवस्था के अनुसार अग्रणी साधु-साध्वियां आचार्य के पास उपस्थित होते ही इस व्यवस्था को दोहराते हैं—'मैं, मेरे सहगामी साधु (या साध्वी) तथा पुस्तकें आपके चरणों में प्रस्तुत हैं, आप जहां रखेंगे, वहीं हम रहेंगे।' यह समर्पण या ममकार-विसर्जन की अंतःप्रेरणा तेरापंथ को नई शक्ति और नई स्फूर्ति प्रदान करती है।

हृदय-परिवर्तन

आचार्य भिक्षु ने यह स्वीकार किया कि साध्य और साधन—दोनों की शुद्धि हुए बिना धर्म नहीं हो सकता। इस *सिद्धांत की व्याख्या में हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत विकसित* हुआ। हृदय-परिवर्तन के लिए विराट प्रेम का होना जरूरी है। जिसके हृदय में क्रूरता छिपी रहती है, वह हृदय-परिवर्तन करने में सफल नहीं होता। गोकुलदास नानजीभाई गांधी ने लिखा है कि आचार्य भिक्षु का साध्य-साधन की शुद्धि और हृदय-परिवर्तन का सिद्धांतबीज श्रीमद् राजचन्द्र के पास पहुंचा और श्रीमद् के माध्यम से वह महात्मा गांधी तक पहुंचा। मेरी दृष्टि में साधन-शुद्धि पर आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी ने जितना विशद चिंतन किया है, उतना अन्य चिंतकों ने नहीं किया। आचार्य भिक्षु ने संघ का विधि-पत्र लिख, साधुओं की स्वीकृति के लिए उनके सामने प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने कहा—'जिन्हें इन मर्यादाओं में विश्वास हो, वे इस विधि-पत्र को अपनी स्वीकृति दें और जिन्हें विश्वास न हो, वे संकोचवश इसे स्वीकर न करें।' यह हृदय-परिवर्तन का सिद्धांत सर्वत्र मान्यता प्राप्त कर चुका है। वैचारिक परिवर्तन राजनीतिक परिवर्तन से अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

सापेक्षता

जैन धर्म में सामुदायिक साधना की पद्धति बहुत पहले से मान्य है। इसीलिए जैन परंपरा में संघ का बहुत महत्त्व रहा है। आचार्य भिक्षु ने इस महत्त्व का मूल्यांकन किया और सापेक्षता के आधार पर संघ की व्यवस्था की। तेरापंथ की साधुसंस्था ने सेवा के क्षेत्र में अनेक कीर्तिमान स्थापित किए। समता और सापेक्षता एक-दूसरे के पूरक हैं। तेरापंथ ने अपनी व्यवस्था में समता को इतना विकसित किया कि उसे जानकर श्री जयप्रकाशनारायण ने कहा—'तेरापंथ की संघ-व्यवस्था में सवा सोलह आना समाजवाद है।' धर्म का मूल समता है। भगवान महावीर ने इसे सर्वाधिक महत्त्व दिया था। यह कटु सत्य है कि श्रावक समाज ने इस व्यवस्था का अनुगमन नहीं किया।

तेरापंथ का तात्पर्य

मैं जिस मुनिगण में दीक्षित हूं, उसका नाम तेरापंथ है। आचार्य भिक्षु ने तेरापंथ का एक अर्थ किया—जहां पांच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह; पांच समितियां—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग तथा तीन गुप्तियां—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—ये तेरह नियम पालनीय हैं; वह तेरापंथ है।

एक दिन अध्ययन करते-करते मैंने पूज्यपाद का निम्न श्लोक पढ़ा तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। मैंने मन-ही-मन सोचा—ओह! कितना विचित्र साम्य! वह श्लोक यह है :

तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः,
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दृष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरात् नमामो वयम॥

शरीर मन और भाषा के निमित्त से प्रकट होने वाली तीन श्रेष्ठ गुप्तियां, ईर्या आदि से समाश्रित पांच समितियां और पांच महाव्रत : चारित्र के हितकारक ये तेरह आचार जिनपतिपरमेश्वर वीर से पूर्व नहीं देखे गए उन महावीर को हमारा नमस्कार।

—आ. म.

साहित्य-साधना

आचार्य भिक्षु की वाणी अनुभव की वाणी थी। उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे। वे राजस्थानी साहित्य के गौरव-ग्रंथ हैं। उनके चतुर्थ उत्तराधिकारी जयाचार्य ने लाखों पद्य लिखे। उनका गद्य साहित्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार्य तुलसी और उनके शिष्य-मंडल ने अनेक रचनाएं की हैं। उन्होंने साहित्य जगत को प्राकृत, संस्कृत, हिंदी और राजस्थानी में अनेक ग्रंथ दिए हैं। एक साथ इतनी बड़ी संख्या में साधु-साध्वियों की साहित्यिक प्रतिभा का विकसित होना कोई नियति का योग ही है।

अणुव्रत आंदोलन

आचार्य भिक्षु ने धर्म की व्यापकता स्वीकार की। भगवान महावीर की वाणी के आधार पर उन्होंने कहा—'धर्म देशातीत और संप्रदायातीत है।' इस स्वीकृति ने तेरापंथ के नवम आचार्य को अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तन की

प्रेरणा दी। अणुव्रत आंदोलन किसी संप्रदाय और उपासना पद्धति से आबद्ध नहीं है। यह शुद्ध अर्थ में धर्म की आचार-संहिता है। यह सार्वकालिक और सार्वदेशिक है। इस आंदोलन ने धर्म-समन्वय के मंच की भूमिका निभाई है और सब संप्रदायों के लोगों ने इसे अपनाया है।

संघ की अखंडता का सूत्र

संघ और साधना—इन का योग एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। संघ यदि साधना-शून्य हो तो वह धर्मसंघ नहीं हो सकता और यदि साधना अकेले में हो तो भी वह धर्मसंघ नहीं हो सकता। धर्मसंघ तभी हो सकता है जब समूह में रहकर अनेक साधु साधना कर सकें और करते हों। तेरापंथ एक धर्मसंघ है। उसमें संगठन और साधना—दोनों संभावनाएं एक साथ कार्य कर रही हैं। आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि साधना के लिए अनुशासन जरूरी है। कोई भी साधु गुरु के अनुशासन या मार्ग-दर्शन के बिना साधना में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, सही मार्ग पर चल नहीं सकता। योगी की विशिष्ट साधना में समर्पण का बहुत मूल्य है। जो साधु अपने गुरु और साधना-पद्धति के प्रति सर्वात्मना समर्पित नहीं होता, वह सिद्धि तक नहीं पहुंच पाता। ऐसे समर्पण की गुरु को जरूरत नहीं है, किंतु यह साधु की अपनी प्रगति के लिए जरूरी है। समर्पण का अर्थ है—सब संदेहों से मुक्त होकर गुरु द्वारा बताए गए अभ्यास में लग जाना। यदि मन में किंचित भी संदेह शेष है तो साधक गुरु-निर्दिष्ट अभ्यास-क्रम में सर्वात्मना लग नहीं सकता, इसमें लगे बिना सफलता नहीं मिल सकती। यह समर्पण साधना के क्षेत्र में ही नहीं, किसी भी विशिष्ट कला, शिल्प और विद्या के क्षेत्र में भी उपयोगी है।

विशिष्ट व्यवस्था

साधना करने वाले समूह का समर्पण एकीभूत और घनीभूत होकर संघ बनता है। उसका केंद्र संघपति या आचार्य होता है। पथ-दर्शन की क्षमता के कारण आचार्य संघ के सूत्रधार, पालक और पोषक होते हैं।

आचार्य भिक्षु ने एक संघ और एक संघपति की विशिष्ट व्यवस्था की। अनेक संघ और अनेक संघपति की व्यवस्था यद्यपि पुरानी है, फिर भी एक संघ और एक संघपति की जो विशेषता है, वह अनेकता की व्यवस्था में कभी उपलब्ध नहीं होती। जब साधुओं की संख्या बहुत अधिक हो, एक संघ में उनकी शिक्षा और साधना की व्यवस्था सम्यक् नहीं बन पाती हो, तब अनेक संघों की प्रणाली अपने-आप जन्म लेती है, किंतु सामूहिक शिक्षा और साधना की व्यवस्था में कठिनाई न आए, उस स्थिति में एक प्रकार का मार्ग-दर्शन अधिक उपयोगी हो सकता है, एक संघ अधिक सफलता से साधना का संचालन कर सकता है।

सफलता का मानदंड

साधु जीवन की सफलता का मानदंड है—साधना। साधु संघ में रहकर व्यवस्था उपलब्ध करता है, यह उसके सामूहिक जीवन की प्रक्रिया है और मार्ग-दर्शन उपलब्ध करता है, यह उसके जीवन की सफलता का मौलिक आधार है। समूह का जीवन जीने वालों के लिए व्यवस्था स्वाभाविक है। आचार्य भिक्षु कुशल व्यवस्थाकार थे। उन्होंने धर्मसंघ को अनुत्तर व्यवस्था दी। उस व्यवस्था की अपनी विशेषता है कि लगभग सात सौ से अधिक साधु-साध्वियों का धर्मसंघ सामूहिक जीवन जीने में आनंद का अनुभव कर रहा है। साधना के क्षेत्र में परस्पर सहयोग और स्वानुभव—दोनों एक साथ जरूरी होते हैं। परस्पर सहयोग का अर्थ होता है—संघ, और स्वानुभव का अर्थ होता है—व्यक्ति, अकेलापन। अकेलेपन का अनुभव हुए बिना साधना नहीं हो सकती और पारस्परिक सहयोग की अनुभूति हुए बिना संघ नहीं हो सकता। संघ और साधना—दोनों का साथ हो, उसके लिए आचार्य भिक्षु ने एक महत्त्वपूर्ण मार्ग-दर्शन दिया कि साधु गण में रहता हुआ भी अकेला रहे। जो साधु दलबंदी नहीं करता, न अपना दल बनाता है और न किसी दूसरे दल में शामिल होता है, वह समूचे संघ को ही अपना आश्रयदाता मानता है। पारस्परिक सहयोग का आदान-प्रदान करते हुए भी साधना की दृष्टि से जो सदा अपने को अकेला अनुभव करता है, वह संघ में रहते हुए भी अकेला होता है। ऐसा साधु ही वास्तव में साधना का उपयुक्त पात्र है।

निष्ठा विभक्त न हो

आचार्य भिक्षु ने एक मर्यादा का विधान किया—संघ से पृथक् होने वाला साधु या साध्वी किसी दूसरे साधु या साध्वी को अपने साथ न ले जाए, कोई आना चाहे तो भी न ले जाए। यह मर्यादा धर्मसंघ की एक अनुपम मर्यादा है। इसका मूल्यांकन संघ के संदर्भ में नहीं, किंतु साधना के संदर्भ में करना बहुत जरूरी है। धर्मसंघ में दीक्षित होने वाला साधु साधना के प्रति समर्पित होकर मार्ग-दर्शन के लिए संघ या संघपति के प्रति समर्पित होता है, किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति समर्पित नहीं होता। यदि वह किसी व्यक्ति-विशेष से अनुबंधित होकर धर्मसंघ को छोड़ता है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह संघ के प्रति किए गए समर्पण के प्रति निष्ठावान नहीं है, किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति निष्ठावान है। यह निष्ठा का अभाव ही उसकी साधना

के प्रति निष्ठा नहीं है—इस बात का सूचक है। संगठन के लिए जरूरी है कि निष्ठा विभक्त न हो। हमारे धर्मसंघ में आचार्य को बहुत सम्मान दिया जाता है। उनके प्रति बहुत ही आदरपूर्ण और विनम्र व्यवहार किया जाता है। यह सब अहेतुक नहीं है। इसके पीछे एक गहरा हेतु है और वह है निष्ठा का केंद्रीकरण। एक केंद्र में केंद्रित निष्ठा ही संगठन को चिरजीवी बना सकती है। दूसरे साधुओं के प्रति निष्ठा न हो, इसका यह फलित नहीं है, किंतु सर्वोपरि निष्ठा आचार्य के प्रति हो, यह इसका सहज फलित है। इसी फलित के आधार पर तेरापंथ धर्मसंघ दो शताब्दियों से अधिक समय की अवधि में अपनी एकता को सुरक्षित रख पाया है और भविष्य में भी रख पाएगा।

आकर्षण का केंद्र

तेरापंथ धर्मसंघ के मर्यादा-पत्र (संविधान) की जानकारी प्रत्येक श्रावक के लिए जरूरी है। पहले मर्यादा-पत्र का सामूहिक वाचन सप्ताह में दो बार होता था। आजकल पक्ष में एक बार होता है। जिस दिन मर्यादा-पत्र का वाचन होता, हाजरी होती, उस दिन बहुत लोग एकत्र होते और बच्चों के लिए वह विशेष आकर्षण का केंद्र होता। उनके आकर्षण का मुख्य विषय होता, साधुओं अथवा साधु-साध्वियों की पंक्तिबद्ध श्रृंखला। मर्यादा-पत्र के वाचन के उपरांत साधु पंक्तिबद्ध खड़े होकर मर्यादाओं को दोहराते, यह सबके लिए आकर्षण का केंद्र बनता। बच्चों के लिए यह दृश्य विशेष आकर्षण का केंद्र बनता। जब बच्चे पंक्ति देखने को आते तब अनायास ही मर्यादा-पत्र के व्यवस्था-सूत्र भी सुनने को मिल जाते और बचपन से ही उनके मन में एक विशेष महत्त्व का भाव निर्मित हो जाता।

गंभीर प्रश्न

आजकल स्कूली जीवन की व्यवस्था के कारण न उतना संपर्क हो पाता है और न ही मर्यादा-पत्र को सुनने का अवसर मिलता है। इसलिए बहुत-सारे युवक भी संघ की मौलिक मर्यादाओं से अपरिचित हैं। वे अपने दायित्व और कर्तव्य से भी परिचित नहीं होते और संगठन की अक्षुण्णता के मौलिक आचार से भी परिचित नहीं होते। इस पर गंभीरता से चिंतन करना जरूरी है। धर्मसंघ की अक्षुण्णता के लिए आचार्य उत्तरदायी होते हैं। साथ-साथ समूचा संघ भी उत्तरदायी होता है। यह सामूहिक उत्तरदायित्व है। इसमें आचार्य का बहुत बड़ा भाग है, किंतु कुछ-न-कुछ दायित्व संघ के प्रत्येक सदस्य का भी होता है। कोई भी व्यक्ति अपने दायित्व को न भूले—यह अपेक्षित है। सामूहिक साधना के लिए धर्मसंघ की प्रेरणा और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अपने दायित्व के प्रति विशेष जागरूक बने और वैसा आचरण करे, जिससे संघ की अखंडता को और अधिक सिंचन मिले।

अनुशासन का प्रतीक—मर्यादा महोत्सव

तेरापंथ के आचार्य अनुशासन को अत्यधिक महत्त्व देते रहे हैं। उनके अनुसार अनुशासनयुक्त संघ ही वास्तव में संघ होता है। अन्यथा वह अस्थियों का ढेर मात्र होता है। तेरापंथ के श्रमण-श्रमणी संघ ने भी अपनी अनुशासन-प्रियता से संघ को शक्तिशाली बनाया है। प्रतिवर्ष चातुर्मास के बाद आचार्य के पास आना, मर्यादाओं का पुनरावर्तन करना और आचार्य के निर्देशानुसार पुनः विहार करना—समर्पण के सजीव चित्र हैं, जो भाग्य से ही किसी विरल संगठन की भित्ति पर आलेखित होते हैं। तेरापंथ विक्रम संवत् 1920 से प्रतिवर्ष मर्यादा का महोत्सव मनाता आ रहा है।

अध्यात्म-ज्योति

अनुशासन यंत्र है। वह व्यक्ति की चेतना को नियंत्रित कर अंतर की ज्योति को आवृत कर देता है। व्यवहार की भूमिका में उसका मूल्य हो सकता है, पर सत्य की भूमिका पर उसे मूल्य प्राप्त नहीं होता। वहां मूल्य होता है अंतर्मुखी वृत्ति का, जो अनुशासन को आंतरिकता प्रदान करती है। आचार्यश्री तुलसी ने अध्यात्म-साधना के विकास की दिशा में कुछ विशिष्ट प्रयत्न किए। जैन परंपरा में ध्यान के नए उन्मेष लाने में ये प्रयत्न बहुत मूल्यवान सिद्ध हुए हैं।

कला-कौशल

'सत्यं' हमारे अंतर में होता है, 'शिवं' हमारे परिपार्श्व में होता है और 'सुन्दरं' हमारे कार्य में अभिव्यक्त होता है। कोई भी संगठन परिपूर्ण नहीं होता। अपूर्णता से पूर्णता की दिशा में बढ़ने का प्रयत्न ही 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की उपलब्धि है। तेरापंथ के साधु-साध्वी समाज ने कला के क्षेत्र में विशेष प्रगति की है। सूक्ष्माक्षर की लिपि, सिलाई, रंगाई, धर्मोपकरण का निर्माण—इन्हें आध्यात्मिक मूल्य न दिया जाए, फिर भी एकाग्रता और कौशल का मूल्य अवश्य दिया जाएगा।

हमने सत्य के पक्ष में आध्यात्मिक और संगठन के पक्ष में व्यावहारिक जीवन जीना स्वीकार किया है, इसलिए हमारे संघ ने दोनों क्षेत्रों में समन्वित गति की है। तेरापंथ का विकास मानव समाज के लिए गौरव और जैन परंपरा के लिए महत्त्वानुभूति का विषय है। कोई भी तटस्थ इतिहासकार इस वास्तविकता पर स्वीकृति दिए बिना नहीं रहेगा। ❖

केवल अतीत को देखना और उसका बखान करना ही पर्याप्त नहीं होता। हम वर्तमान पर भी दृष्टि डालें। मैं यह देखकर संतुष्ट हूं कि हमारा संघ त्रिपदी का ज्वलंत उदाहरण बन रहा है। दो सौ वर्षों के बाद भी हमारी आचार-निष्ठा में कोई अंतर नहीं आया है। मौलिक आचार की पालना में हम ध्रुव हैं, निश्चल हैं। दो सौ वर्षों की अवधि में अनेक परिवर्तन हुए हैं। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों में भारी उथल-पुथल हुई है। विचारों का विकास हुआ है। बुद्धिवाद बढ़ा है। हमने समय को समझने का यत्न किया है—कुछ छोड़ा है, कुछ लिया है। हम परिवर्तनशील नियमों में परिवर्तन न करने के आग्रह से मुक्त हैं।

न्याय मारग चालणो : चारित्र चोखो पालणो

❑ आचार्यश्री तुलसी ❑

आज का दिन, आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा का दिन तेरापंथ के इतिहास में गौरवपूर्ण दिन है। आज के दिन महामहिम आचार्य भिक्षु ने दीक्षा स्वीकार की थी, तेरापंथ का उदय हुआ था। अनुशासन, संगठन और व्यवस्था का बीज-वपन हुआ था और धर्म-क्रांति का शंख फूंका गया था।

दो शताब्दियां पूर्ण हुई हैं। हमारा भिक्षु गण इस पुण्य वेला में तीसरी शताब्दी में प्रवेश कर रहा है। हमारा धर्म-शासन अपनी समृद्ध परंपराओं व व्यवस्थित प्रणालियों के साथ तीसरे शतक के पहले चरण का स्पर्श कर रहा है। आज हम हर्षविभोर हैं। जितने हर्षविभोर हैं, उतने ही गंभीर हैं। हम हर्षविभोर इसलिए हैं कि समय की इस अवधि में हमें जो मिला है, वह साधारण नहीं है, यत्र-तत्र सुलभ नहीं है। दायित्व का चिंतन करते समय हम गंभीर हो जाते हैं। हमने जो दायित्व ओढ़ा है वह गंभीर है। उसका सम्यक् पालन हो—इसीलिए हम गंभीर हैं।

तेरापंथ के स्थापना दिवस पर कालजयी आचार्यश्री तुलसी ने यह आलेख सन् 1967-68 में संभवतः लिखा था। छत्तीस वर्ष बीत गए इस बात को, पर यह आलेख आज भी प्रासंगिक प्रतीत होता है।

243वें तेरापंथ स्थापना दिवस (आषाढ़ी पूर्णिमा, 24 जुलाई, 2002) के अवसर पर इसीलिए यह आलेख अपने पाठकों के लिए यहां प्रस्तुत है।

स्मृति

हमें जो साधना का उत्तराधिकार मिला है, वह महान दायित्व है। कितना बड़ा भार है कि हम स्वयं साधना में रत रहें और दूसरों को साधना में रत रखें। दूसरों का भार उठाना बहुत कठिन बात है। हमें यही सिखाया गया है, इसीलिए हमारा गण है, हमारा धर्म-शासन है। भगवान महावीर से जो दर्शन मिला, जो कार्य मिला—उसे हमने अपनाया। हम जैन बने। आचार्य भिक्षु से हमें जो व्याख्या मिली, जो परंपराएं मिलीं—उन्हें हमने अपनाया। हम तेरापंथी बने।

जैन-परंपरा का इतिहास बहुत पुराना है। मानव-जाति का इतिहास जितना पुराना है, उतना पुराना है। तेरापंथ का इतिहास केवल दो सौ वर्षों का है। विक्रम संवत् 1817 की आषाढ़ी पूर्णिमा थी। यही था 'केलवा' और यही थी 'अंधरी ओरी'। उत्साहपूर्ण वातावरण में आचार्य भिक्षु ने यहीं तेरापंथ की प्रथम दीक्षा स्वीकार की। उसके पीछे क्रांति का एक बीज छिपा हुआ था।

स्थान का अपना महत्त्व होता है। आज हम उसी स्थान पर हैं, उसी गांव में हैं, जहां तेरापंथ का उदय हुआ था। समय का अपना महत्त्व होता है। आज का दिन वही दिन है, जिस दिन तेरापंथ का उदय हुआ था। व्यक्ति का अपना महत्त्व होता है। आज हम उसी व्यक्ति की स्मृति

कर रहे हैं, जिससे तेरापंथ का उदय हुआ था। संस्थान का अपना महत्त्व होता है। आज हम उसी संस्थान की स्मृति कर रहे हैं, जिसका उदय अपनी विशेषताओं के साथ हुआ था।

तेरापंथ का उद्भव और स्वरूप

तेरापंथ की विशेषता है—आचार का दृढ़तापूर्वक पालन। आचार्य भिक्षु ने हमारे संविधान का यही उद्देश्य बतलाया है—'न्याय मारग चालण रो नै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।' तेरापंथ का उद्भव ही चारित्र की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के साथ कुछ परिवर्तन अपरिहार्य होते हैं, इस तथ्य को आचार्य भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है—यह उन्हें मान्य नहीं हुआ। इस अस्वीकृति में ही तेरापंथ का उद्भव-रहस्य है। चारित्र की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्था—ये दोनों स्वयं प्राप्त होते हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धांत आगम-सूत्रों से सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला देश-काल की परिस्थिति के अध्ययन से।

आचार्य भिक्षु ने देखा—वर्तमान के साधु शिष्यों के लिए विग्रह करते हैं, उन्होंने शिष्य-परंपरा को समाप्त कर दिया। तेरापंथ का विधान किसी भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं देता। आज हमारे सब साधु-साध्वियां संतुष्ट हैं, सुखी हैं और इसलिए हैं कि उनके शिष्य-शिष्याएं नहीं हैं। आज तेरापंथ संगठित और सुव्यवस्थित है और इसलिए है कि शिष्य-शाखा का लोभ नहीं है। आज तेरापंथ एक आचार्य के अनुशासन में प्रगति के पथ पर है, शक्ति-संपन्न है और इसलिए है कि उसका साधु वर्ग छोटी-छोटी शाखाओं में बंटा हुआ नहीं है। इन सब सुपरिणामों का मूल हेतु है लक्ष्य के प्रति दृढ़ विश्वास। लक्ष्य है मुक्ति। मुक्ति के लिए आचार-शुद्धि ही एकमात्र विकल्प है। उसके लिए व्यवस्था व अनुशासन आवश्यक है।

अनुशासन और व्यवस्था

तेरापंथ का विकास जो हुआ है वह अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है।

हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है। यहां बल-प्रयोग के लिए कोई स्थान नहीं है। जो-कुछ होता है वह हृदय की पूर्ण स्वतंत्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देते हैं और समूचा संघ उनका पालन करता है। इनके मध्य में श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं है। श्रद्धा और विनय हमारे जीवन-मंत्र हैं।

संप्रदाय : सांप्रदायिकता

मैं एक संप्रदाय का आचार्य हूं, पर सांप्रदायिकता का समर्थक नहीं हूं। इन दोनों स्थितियों में अंतर्विरोध जैसा प्रतीत होता है। समुद्र में रहने वाला जीव समुद्र के अस्तित्व का विरोधी हो, यह समझना हर व्यक्ति के लिए कठिन होता है।

मेरी मान्यता में संप्रदाय और सांप्रदायिकता में एकता उन लोगों को ही प्रतीत होती है, जो उनकी अर्थ-परंपरा से अभिज्ञ हैं। मैं संप्रदाय को गतिशील परंपरा के अर्थ में स्वीकार करता हूं। जबकि सांप्रदायिकता रूढ़ परंपरा में पनपती है। मैं एकपक्षीय स्थितिशीलता से सदा बचा हूं। मैं उससे जो बचा हूं, उसमें केवल मेरा कर्तृत्व ही नहीं है। मुझे अतीत से जो-कुछ मिला है, उसका भी महान योग है।

मैं जिस परंपरा का आचार्य हूं, उसका नाम तेरापंथ है। इसका प्रवर्तन दो सौ वर्ष पूर्व हुआ था। इसके प्रवर्तक थे आचार्य भिक्षु। वे महान क्रांतदर्शी थे। इसीलिए उन्होंने 'पीठ' नहीं चुना, किंतु 'पंथ' चुना। 'पीठ' स्थिर—रूढ़ होता है और 'पंथ' गतिशील। 'पीठ' अमुक-अमुक के लिए होता है और 'पंथ' सबके लिए। जो 'पंथ' सबके लिए नहीं होता, वह लंबे समय तक गतिशील भी नहीं होता। आचार्य भिक्षु का 'पंथ' सबके लिए है, इसीलिए वह गतिशील है। मैं उसकी गतिशीलता से प्रभावित हूं, इसलिए सांप्रदायिकता से मुक्त हूं। आचार्य भिक्षु ने भगवान महावीर की वाणी का मुक्त समर्थन किया।

अहिंसा सबके लिए है, इसीलिए उसकी व्याख्या बड़े और छोटे लोगों के लिए एक ही रूप में है। इसी तरह समता में धर्म है, विषमता में धर्म नहीं है। इस वाणी से अप्रभावित व्यक्ति 'पंथ' नहीं चुनेगा, 'पीठ' चुनेगा। आचार्य भिक्षु ने पंथ चुना, पीठ नहीं चुना—इसलिए मैं मानता हूं कि वे महावीर वाणी से प्रभावित थे। धर्म के लिए वह प्रत्येक व्यक्ति अधिकृत है—जिसकी अंतर्चेतना उद्बुद्ध हो उठी, भले वह किसी भी परंपरा का अनुगमनकारी हो। मेरी →

आज के इस भौतिक जगत में इन दोनों के प्रति तुच्छता का भाव पनप रहा है, वह अकारण भी नहीं है। बड़ों में छोटों के प्रति वात्सल्य नहीं है। छोटे लोगों को बड़े अपने

अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वंद्व में बुद्धिवाद—अश्रद्धा और अविनय की ओर मुड़ जाता है। लेकिन हमारा जगत आध्यात्मिक है। इसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद है ही नहीं। अहिंसा हम सबका धर्म है। उसकी सीमा में प्रेम और वात्सल्य के सिवा और है ही क्या? जहां अहिंसा है, वहां पराधीनता हो ही नहीं सकती। आचार्य किसी भी शिष्य को अपने अधीन नहीं रखते, किंतु शिष्य अपने हित के लिए सहर्ष अधीन रहना चाहता है। यह हमारी स्थिति है।

इस पुण्य अवसर पर मैं मंगल-कामना करता हूं कि संदेह और पराधीनता का भाव हमारे गण में न आए और मुझे दृढ़ विश्वास है कि जब तक हमारा साधु वर्ग अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्थावान रहेगा तब तक ये दोष नहीं आएंगे।

आचार्य भिक्षु ने व्यवस्था के लिए समता का जो सूत्र दिया, वह समाजवाद का विकसित प्रयोग है। यहां सब-के-सब श्रमिक हैं और सब-के-सब पंडित। यहां हाथ-पैर और मस्तिष्क में अलगाव नहीं है। सामुदायिक कार्यों का संविभाग होता है। सब साधु-साध्वियां दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करते हैं। खान-पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओं का संविभाग होता है। एक रोटी के चार टुकड़े हो जाते हैं—यदि खाने वाले चार हों तो। एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागों में बंट जाता है—यदि पीने वाले चार हों तो। इस संविभाग की पद्धति से हमारे साधु-साध्वियां परम संतुष्ट हैं।

अतीतावलोकन

मैं इस महान अवसर पर समूचे संघ को कहना चाहता हूं कि वह अपने उज्ज्वल अतीत को देखे। हमारे साधु लक्ष्य के प्रति कितने आस्थावान रहे हैं, संघ-समृद्धि के लिए कितना कष्ट सहा है, कितने खपे हैं और कितना तप तपा है, हमारा कर्तव्य है कि उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें। मैं उन्हें अपनी व अपने संघ की ओर से शत-शत श्रद्धांजलियां अर्पित करता हूं।

हम श्रावक समाज को भी न भूलें, जो संघ की श्रीवृद्धि के लिए सतत जागरूक रहा है। जिसने अपने श्रद्धा-बल पर साधु-समाज को महान योग दिया है, हम उसकी उदार भावनाओं का मूल्यांकन करें। मैं उसकी निरवद्य सेवाओं का हृदय से सम्मान करता हूं।

वर्तमान दर्शन

केवल अतीत को देखना और उसका बखान करना ही पर्याप्त नहीं होता। हम वर्तमान पर भी दृष्टि डालें। मैं यह देखकर संतुष्ट हूं कि हमारा संघ त्रिपदी का ज्वलंत उदाहरण बन रहा है। दो सौ वर्षों के बाद भी हमारी आचार-निष्ठा में कोई अंतर नहीं आया है। मौलिक आचार की

धर्म-परंपरा में यदि यह बीज विकसित न हुआ होता तो न मैं सांप्रदायिकता से मुक्त हो पाता और न मुझसे अणुव्रत का आंदोलन शुरू होता। इसीलिए मैं मानता हूं कि मेरी धार्मिक विशालता की सृष्टि उन हाथों से हुई है जो अपनी परंपरागत थाती को थामे हुए हैं।

मैं आचार्य भिक्षु के प्रति सहजभाव से कृतज्ञ हूं, पर इस बात के लिए बहुत कृतज्ञ हूं कि उन्होंने धर्म को व्यापक दृष्टि से देखा और उसे व्यापक भित्ति पर ही प्रतिष्ठित किया।

धर्म वस्तुतः धर्म ही है। वह आकाश की भांति मुक्त और व्यापक है। कोई भी व्यापक वस्तु पकड़ में नहीं आती। संप्रदाय उसकी पकड़ का माध्यम है। मैं संप्रदाय को उपलब्धि नहीं, किंतु सत्य की उपलब्धि में एक सहयोग मानता हूं। वह अपने-आप में अनिष्ट नहीं है, उसका दुरुपयोग किया जाए तो वह अनिष्ट बन सकता है। दुरुपयोग करने पर हर कोई इष्ट अनिष्ट बन सकता है।

सत्य की उपलब्धि के लिए संप्रदाय हो तो वह अनिष्ट नहीं बनता। किंतु संप्रदाय के लिए सत्य हो जाता है, तब संप्रदाय साध्य बन जाता है और वह अनिष्ट बन जाता है। जहां संप्रदाय सत्य से शासित नहीं होता, किंतु सत्य संप्रदाय से शासित होने लग जाता है—वहां धर्म निष्प्राण और तैजस्-शून्य हो जाता है।

मेरी आस्था इस बात में है कि संप्रदाय अपने स्थान पर रहे, किंतु वह सत्य का स्थान न ले। सत्य का माध्यम ही बना रहे, स्वयं सत्य न बने। इस आस्था में मुझे धर्म की तेजस्विता प्रतीत होती है।

मेरी इस आस्था को जहां प्राण-पोष मिला—उस संप्रदाय को मैं बहुत ही स्वस्थ माध्यम मानता हूं। जिन आचार्यों ने इस प्रकार की स्वस्थ परंपरा को सुरक्षित रखा—उनको भी मैं महान मानता हूं। ❖

—आचार्यश्री तुलसी

पालना में हम ध्रुव हैं, निश्चल हैं। दो सौ वर्षों की अवधि में अनेक परिवर्तन हुए हैं। धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों में भारी उथल-पुथल हुई है। विचारों का विकास हुआ है। बुद्धिवाद बढ़ा है। हमने समय को समझने का यत्न किया है—कुछ छोड़ा है, कुछ लिया है। हम परिवर्तनशील नियमों में परिवर्तन न करने के आग्रह से मुक्त हैं।

यह सही है कि जहां परिवर्तन होता है, वहां कुछ-न-कुछ कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। उनका समाधान भी होता है। मैं आवश्यक नहीं समझता कि कोई विश्वास दिलाऊं। मेरे दायित्व का मुझे ध्यान है, इसलिए मैं कहना चाहूंगा कि सब लोग निश्चिंत रहें। जो मौलिक है उसमें परिवर्तन नहीं होगा। और जो परिवर्तनीय है—उसे देश-काल और परिस्थिति के अनुसार बदलने में संकोच भी नहीं होगा।

आज का युग और हमारा कर्तव्य

आज हम भौतिकवाद की भित्ति पर परिपोषित बुद्धिवाद के युग में जी रहे हैं। श्रद्धा, विनय और अनुशासन कसौटी पर हैं। वैसी स्थिति में यह इष्ट नहीं है कि हम बुद्धिवाद की अवहेलना करें। इष्ट यही है कि श्रद्धा अडिग रहे, विनय बढ़े और अनुशासन पनपे। हमारा तेरापंथीत्व इसी में है और इसी परंपरा को पुष्ट रखकर ही हम आचार्य भिक्षु को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं।

भविष्य कल्पना का जगत होता है। पर इसमें संदेह नहीं कि जिसका वर्तमान उज्ज्वल होता है, उसका भविष्य भी सदा ही उज्ज्वल होता है। वर्तमान को उज्ज्वल बनाए रखने के लिए जो विचार-संपदा, आचार-परंपरा हमें प्राप्त है, उसे सुरक्षित रखें तथा नए-नए विचारों से उसे समृद्ध बनाएं।

आज का विश्व आणविक अस्त्रों की स्पर्धा से आतंकित है। वातावरण तनावपूर्ण है। इस स्थिति में अनेकांत दृष्टि और समन्वय की विचारधारा को प्रभावशाली बनाया जा सकता है। अहिंसा के प्रसार का यह स्वर्ण अवसर है।

भगवान महावीर ने जो दिया वह सर्वादिक है, फिर भी आज उसकी उपयोगिता और अधिक है। किसी समय जैन-शासन बहुत व्यापक बना था। उसकी व्यापकता के हेतु थे—

- सैद्धांतिक व नैतिक दृढ़ता।
- अपूर्व त्याग।
- पारस्परिक प्रेम व ऐक्य।
- जातिभेद का अभाव।
- देश-कालोचित साधनों का अवलंबन।
- धर्म-प्रचार का अदम्य साहस।
- व्यापक दृष्टिकोण।

समय की गति के साथ स्थिति बदल गई। आज व्यापकता कम हुई है, संप्रदाय और शाखाएं अधिक बढ़ी हैं। कुछ शताब्दियां तो बहुत ही संघर्षपूर्ण बीतीं। यह प्रसन्नता की बात है कि वर्तमान में दूरी कम होती जा रही है, विरोध मिट रहा है। मैं इस पुण्य अवसर पर सब जैन संप्रदायों से यह अनुरोध करूंगा कि वे समन्वय का दृष्टिकोण इतना पुष्ट बनाएं कि जिससे संप्रदायों की स्थिति रहते हुए भी जैन-शासन की अखंडता पर कोई आंच न आए। इस दिशा में मैं और मेरा संघ सदा प्रयत्नशील रहेंगे। मैं दृढ़तापूर्वक यह घोषित करना चाहता हूं।

मैंने आज से पांच वर्ष पूर्व मुंबई में समन्वय के जो पांच सूत्र प्रस्तुत किए थे, उन पर वैसी ही दृढ़ता है, जैसी उस समय थी। मैं हृदय से चाहता हूं कि जैन-शासन की अखंडता निर्बाध हो। जैन-साहित्य पुराकाल में समृद्ध व सर्वोपयोगी रहा है। मैं कामना करता हूं कि आज भी वैसा ही उच्चतम साहित्य और साहित्यकार जैन-शासन को सुशोभित करें।

जैन-साहित्य में आगमों का स्थान सर्वोपरि है। उनकी सर्व-सुलभता की दृष्टि से जैसे हिंदी रूपांतर आदि आवश्यक हैं, वैसे ही उनकी मूलपाठ की सर्वमान्य वाचना भी आवश्यक है। मैं इस कार्य के लिए पहले भी एक विचार दे चुका हूं। वह विचार आगे नहीं बढ़ा। किंतु मैं आशा करता हूं कि एक दिन अवश्य ही उस पर ध्यान दिया जाएगा।

हमने शताब्दी के अवसर पर जो साहित्य-निर्माण की कल्पना की थी, उसमें निश्चित सफलता मिली है। इस प्रयत्न में शिथिलता नहीं आएगी, यह दृढ़ संकल्प है।

इस समय पूज्य कालूगणी की पुण्य स्मृति मुझे पुलकित कर रही है। उन्होंने तेरापंथ को उस भूमिका पर पहुंचा दिया, जहां पहुंचकर हम विश्व-मानस को पढ़ सकते हैं और क्षमतापूर्वक उसके साथ चल सकते हैं।

निष्ठा को संस्कार देने वाले संकल्प

मैं इस समय महामहिम आचार्य भिक्षु, श्रीमज्जयाचार्य आदि पूर्वजों के उन वाक्यों की याद दिलाना

चाहता हूं जो आज भी उतने ही प्रेरक और प्रकाश-दीप हैं।

भिक्षु-गण के नीतिमान साधु-साध्वियो!

- आज्ञा का सर्वोपरि स्थान जो है, उसे बनाए रखना है। 'जिन-शासन में आज्ञा बड़ी'—आचार्य भिक्षु की इस वाणी को तुम कभी न भूलो!
- हमारा संबंध आचार का है। अनाचार को कभी प्रोत्साहन मत दो! तुम्हें याद होगी वह वाणी—

  कहो साधू किसका सगा, तड़के तोड़े नेह।

  आचारी स्यूं हिले मिले, अनाचारी ने छेह।।
- सब परस्पर प्रेम रखो। आचार्य भिक्षु की अंतिम शिक्षा क्या है—

  सगला रे सगला साधु साधवी,

  राखजो हेत विशेष।

  जिण तिण ने रे जिण तिण ने मत मूंडजो,

  दीक्षा दीजो देख देख।।
- गण के प्रति अत्यंत निष्ठावान रहो। कठिन परिस्थिति में भी उससे दूर होने का मत सोचो। श्रीमज्जयाचार्य ने जो कहा—

  प्राण जाय तो पग म खिसोरी।
- सेवाभाव, कष्ट-सहिष्णुता, दृढ़ विश्वास आदि जो विशिष्ट परंपराएं पैतृक संपत्ति के रूप में प्राप्त हैं, उन्हें विकसित करो।

हमारा साधु-संघ जिस श्रद्धा और तत्परता के साथ इन वाक्यों का पालन करता है—उसे मैं एक चमत्कार मानता हूं। मैं इसके लिए साधु-साध्वियों को हृदय से बधाई देना चाहता हूं। इनके संयम और समर्पण की मैं प्रशंसा करता हूं।

श्रावक-श्राविकाओं की निष्ठा भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। वे भी गण की चहुंमुखी प्रगति के लिए अपना योग देते रहते हैं।

सह-चिंतन, सहासन, सह-निर्णय और सहप्रयोग—ये हमारे मूलमंत्र हैं। इसलिए इस महान पर्व पर हम सब मिलकर मंगल-कामनाएं करें कि—

अहिंसा धर्म का विकास हो! जैन-शासन का विकास हो! तेरापंथ का विकास हो! ❖

यदि आपसे एक अध्यापक के रूप में पूछा जाए कि इस विद्यालय का क्या प्रयोजन है? तो क्या आप इसका उत्तर दे सकेंगे? मैं जानना चाहता हूं कि आप सब क्या करने का प्रयास कर रहे हैं? सारे विश्व में हजारों विद्यालय यही कर रहे हैं। वे टेक्निकल ज्ञान में छात्रों को सर्वोत्तम बना रहे हैं। इस संबंध में हमें अपने अंदर बहुत स्पष्ट होना चाहिए कि हम क्या चाहते हैं, कि एक मनुष्य को क्या होना चाहिए? एक समग्र मनुष्य, न कि केवल एक टेक्नोलॉजिकल मनुष्य।

यदि हम परीक्षाओं पर, टेक्निकल ज्ञान की सूचनाओं पर बड़ा जोर देते हैं, बालक को चतुर तथा ज्ञान प्राप्त करने में कार्यक्षम बनाते हैं और दूसरे पक्ष की उपेक्षा करते हैं, तो बालक का विकास एकांगी होगा। आंतरिक और बाह्य—दोनों को साथ-साथ चलना चाहिए।

क्या आपने मेरे प्रश्न को समझा? यदि मैं आंतरिक की उपेक्षा करता हूं तथा टेक्नोलॉजी पर बल देता हूं तो जो-कुछ भी मैं करता हूं, एकांगी होगा। इसलिए मुझे कोई मार्ग खोजना ही होगा। मुझे एक ऐसा आंदोलन करना होगा जो दोनों को संभव बनाए। अब तक हमने दोनों को पृथक किया है, और उनको पृथक करके हमने एक को गौरव दिया है तथा दूसरे की उपेक्षा की है। अब हम यही करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि दोनों आपस में जुड़ जाएं। उचित शिक्षा होने पर छात्र इन दोनों को दो पृथक क्षेत्र नहीं मानेगा। अपने को टेक्नीक संबंधी ज्ञान में पूर्ण करने के साथ-साथ वह अपने को एक सार्थक मनुष्य भी बनाएगा। क्या यह आपको कुछ स्पष्ट करता है अथवा नहीं?

—जे. कृष्णमूर्ति

यह सुनिश्चित है कि अहिंसा सबसे अधिक प्रभावशाली एवं स्थाई फल देने वाली है, क्योंकि अहिंसा सभ्यता की दृष्टि से श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों का प्रतीक है। अहिंसा के विस्तार के लिए अध्यात्म का आधार होना ही चाहिए। बिना अध्यात्म के अहिंसा की जड़ें जमना संभव नहीं है। अहिंसा की स्थापना के लिए अहिंसक सामाजिक-आर्थिक संरचना आवश्यक है।

अहिंसा : श्रेष्ठ जीवन-मूल्य

❑ सुरेश जैन ❑

संपूर्ण विश्व दो परस्पर विरोधी ध्रुवों पर खड़ा है। एक ओर अहिंसा का ध्रुव है तो दूसरी ओर हिंसा का। एक ध्रुव भगवान महावीर, गौतम बुद्ध एवं महात्मा गांधी की अहिंसा और शांति का केंद्र है तो दूसरा ध्रुव है हिंसा के ताडंव का वीभत्स मंच। एक ओर हमने भगवान महावीर के 2600वें जन्म दिन को विश्व स्तर पर समारोहित किया है तो दूसरी ओर शांति के पुरोधा भगवान गौतम बुद्ध की विश्वप्रसिद्ध प्रतिमाओं को बारूद का अर्घ्य दिया है। अफगानिस्तान के बामियान क्षेत्र में स्थित बुद्ध की प्रतिमाएं विवेक और मानव-शक्ति की जीवंत और सजग प्रतीक रही हैं। वे उस अफगान की गौरवशाली परंपरा की प्रतीक भी रही हैं जिस परंपरा का पालन करते हुए अफगान सरकारों ने काबुल के संग्रहालय में हजारों मूर्तियां और मुद्राएं सुरक्षित रखीं, वेद और बौद्धकालीन अवशेषों को सहेजकर रखा। किंतु सत्ता के उन्माद ने शांति के प्रतीक बुद्ध को तोपों से नष्ट कर दिया।

हिंसा परिग्रह पर आधारित है। परिग्रह सत्ता तथा विश्व-व्यापार के खेल पर आधारित है। भगवान महावीर ने परिग्रह और सत्ता के चरित्र को जान लिया था। अतः वे दोनों को छोड़कर, अहिंसा के मंगलपथ पर आगे बढ़ गए। आज आवश्यक है कि हम अपने समाज की अहिंसक प्रवृत्तियों का संवर्द्धन और परिवर्द्धन करें और हिंसक प्रवृत्तियों को विनियमित करें।

अहिंसा की शक्ति असीमित/अपरिमित है, तदपि हिंसा की अपनी सीमाएं हैं। हिंसा से किसी की हत्या की जा सकती है, किंतु मृतक का हृदय या विचार परिवर्तित नहीं किया जा सकता। हिंसा के माध्यम से स्थाई एवं आमूल-चूल सामाजिक परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। हिंसक क्रांति में कुछ व्यक्ति ही भाग ले सकते हैं, किंतु अहिंसक क्रांति में अनेक व्यक्ति—बूढ़े-बच्चे, नर-नारी आदि सभी—भाग ले सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा का क्षेत्र असीमित है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हिंसा एवं क्रोध मानव की मूल प्रवृत्तियां हैं। मानव जीवन में हिंसा सदैव विद्यमान रहती है, क्योंकि उद्योग एवं व्यवसायजन्य हिंसा के बिना मानव-जीवन संभव नहीं है। तदापि यह आवश्यक है कि हम ऐसी हिंसा का न्यूनीकरण करें और अहिंसा के पथ पर ही आगे चलें।

अहिंसा के अनुयायी होने के कारण हमें अपने विरोधियों के प्रति भी प्रेम का भाव रखना होगा। सच्ची अहिंसा मनसा, वाचा, कर्मणा होती है। सच्ची अहिंसा का प्रभाव भले ही तुरंत दिखाई नहीं देता हो, किंतु अंततोगत्वा इसका अद्‌भुत प्रभाव होता है। सच्ची अहिंसा के वातावरण में द्वेष एवं घृणा की भावनाएं समाप्त हो जाती हैं एवं प्रेम के अणु फैल जाते हैं। परिणामतः शांति का एक अद्वितीय वातावरण बन जाता है। अहिंसक व्यक्ति निर्भय होता है। जिसे मृत्यु का भय हो वह गांधी, महावीर या बुद्ध का अनुयायी नहीं हो सकता। अहिंसा की शक्ति आत्मा में होती है। वीरता अस्त्र-शस्त्र में नहीं, मनुष्य के अंदर आत्मा में स्थित है। हिंसा तात्कालिक एवं प्रकट रूप से भले ही फलप्रद दिखाई देती हो, किंतु अंततोगत्वा हिंसा सभ्यता की विनाशक ही होती है। हिंसा से दिखाई देने वाला लाभ अल्पकालीन होता है।

यह सुनिश्चित है कि अहिंसा सबसे अधिक प्रभावशाली एवं स्थाई फल देने वाली है, क्योंकि अहिंसा सभ्यता की दृष्टि से श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों का प्रतीक है। अहिंसा के विस्तार के लिए अध्यात्म का आधार होना ही

चाहिए। बिना अध्यात्म के अहिंसा की जड़ें जमना संभव नहीं है। अहिंसा की स्थापना के लिए अहिंसक सामाजिक-आर्थिक संरचना आवश्यक है। अहिंसा पर प्रवचन होते हैं, किंतु अहिंसा के मूल्यों की रक्षा के लिए स्वयं प्रवाचक क्रियात्मक रूप से कुछ नहीं कर पाते हैं। अतः समाज में हिंसा बढ़ती जाती है। अहिंसक राजनीति, अहिंसक अर्थनीति एवं अहिंसक शिक्षा-नीति के प्रचार-प्रसार के लिए व्यावहारिक कार्य करना आवश्यक है। अहिंसा हमारे लिए वैचारिक अनुष्ठान नहीं, जीवन की एक शैली एवं नित्यप्रति का व्यवहार होना चाहिए।

अहिंसा से मैत्रीभाव जागृत होता है। मैत्रीभाव की सहज आधार भूमि पर सद्संकल्प और सद्विचार पुष्पित होते हैं। प्रबल मानसिक शक्ति और निर्मल मनोभाव आपके व्यक्तित्व को नई आशा और ऊंचाई प्रदान कर सकते हैं। दूसरों की सफलता-जनित ईर्ष्या एवं द्वेष मानसिक तनाव और नकारात्मक विचारों को उत्पन्न करते हैं। मानसिक तनाव और आवेगों के कारण पित्ताशय की पथरी बढ़ जाती है। धमनियों पर छाई चर्बी फूल जाती है। मानसिक तनाव से उत्पन्न एड्रिनल हारमोन हमारी धमनियों को संकुचित करने लगता है। धमनियों के अधिक संकुचन से व्यक्ति की मृत्यु तक हो जाती है।

हमें हिंसक आवेग और आवेश से दूर रहना चाहिए। अहिंसक व्यक्तित्व के विकास के लिए व्यक्तिगत अनावेग एवं अनावेश का प्रयोग करना चाहिए। आवेग और आवेश के न्यूनीकरण के प्रयोग से घर में शांति बनी रह सकती है। यदि क्रोध आ भी जाए तो हम उसे बाहर नहीं निकलने दें। ऐसे क्रोध का नियमितीकरण किया जाना चाहिए। पति-पत्नी और बच्चों के बीच तनाव समाप्त होना चाहिए। हमें भगवान महावीर के 2600वें जन्म कल्याणक वर्ष के अवसर पर एक सप्ताह, एक माह अथवा एक वर्ष तक आवेग/आवेश का लोक-प्रदर्शन नहीं करने का संकल्प लेना चाहिए। हमें करुणा में वृद्धि, सहिष्णुता के संवर्द्धन और आवेश नियंत्रण/नियमन के प्रयोग करने चाहिएं। किसी को दुख नहीं पहुंचे और किसी के साथ अन्यायपूर्ण एवं अनैतिक व्यवहार न होने पाए—यह ध्यान रहना चाहिए। किसी का शोषण न हो, हम अपने समुदाय के अच्छे सदस्य बनें। जो हमारी सहायता चाहते हैं, हम उनकी सहायता करें। जो हमारा विरोध करते हैं—हम उन्हें सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयास करें। बीते दिन की तुलना में हम वर्तमान दिन का कार्य कुछ अच्छे ढंग से कर सकें। हम सामुदायिक लाभ को निजी लाभ से ऊपर रखें—यही करुणा का लोक एवं व्यावहारिक पक्ष है। क्रूर व्यवहार के न्यूनीकरण एवं करुण व्यवहार के संवर्द्धन से ही करुणा अपने प्रभावी, व्यावहारिक आयाम ग्रहण करती है।

अहिंसा के माध्यम से मानव-कल्याण और राष्ट्र-निर्माण के लिए संयम और संयमित व्यक्तियों को सर्वोच्च प्रतिष्ठा देनी होगी। धन एक महत्त्वपूर्ण साधन अवश्य है, किन्तु आज वह साध्य बन गया है। हमने धन को अत्यधिक महत्त्व दिया है। धन के प्रभाव, मूल्य एवं महत्त्व ने समाज में अनेकानेक विकृतियों को जन्म दिया है। आवश्यक है कि हम सत्ता और धन के प्रभाव को कम करें और भगवान महावीर के अपरिग्रहवाद को स्वीकार कर शांति के मंगलपथ पर आगे बढ़ें।

शांति और अपरिग्रह का मार्ग प्रतिस्रोत का मार्ग है, दुनिया के सामान्य मार्ग से प्रतिकूल चलने का मार्ग है। प्रतिस्रोत का मार्ग अनुस्रोत के मार्ग की तुलना में कठिन है। भगवान महावीर का मार्ग प्रतिस्रोत का मार्ग है। प्रतिस्रोत का मार्ग ही सच्चा एवं सही मार्ग है। इस मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक है कि हम पंथ, संत, ग्रंथ और मंत्र के आधार पर होने वाले विवादों से दूर रहें, हम किसी के हाथ के औजार न बनें, हम किसी के हाथ के यंत्र न बनें, स्वयं सजीव संयंत्र बनें, भावना से विवेक की ओर बढ़ें।

हम यह स्मरण रखें कि हम सभी अहिंसक व्यक्ति एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जो आप करते हैं, उसका असर मुझ पर पड़ता है और जो मैं करता हूं उसका असर आप पर पड़ता है। हमें सदैव यह एहसास करना चाहिए कि हम सभी एक समाज के कार्यशील भागीदार हैं। हम समाज को जैसा देते हैं, वैसा ही प्राप्त करते हैं। किंतु कई बार जितना देते हैं उससे अधिक प्राप्त कर लेते हैं। देते समय पाने की इच्छा न रखते हुए भी प्राप्त करते हैं।

हमारी चेतना-विवेक/मस्तिष्क दो गियरों में चलता है। एक है—'हेवी गियर' या भौतिक 'गियर'—जो भौतिक सुख-सुविधाओं से पूर्ण है। किंतु इसकी गति बहुत कम होती है। दूसरा है 'लाइट गियर' या आध्यात्मिक 'गियर', जो मैत्री, करुणा, त्याग और शाश्वत जीवन-मूल्यों पर आधारित है। इसकी स्पीड बहुत अधिक होती है। हमें सदैव यह प्रयास करना चाहिए कि हम 'लाइट गियर' का ही उपयोग करें और अपने विकास की गति बढ़ाते रहें। हमारे वास्तविक जीवन की यही कला है और ऐसा ही वास्तविक जीवन जीकर हम विश्व-विजेता बन सकते हैं। ऐसा जीवन

जीने के लिए आवश्यक है—दृढ़ संकल्पशक्ति। भौतिक जगत में चट्टान से अधिक शक्तिशाली लोहा है। लोहे से अधिक शक्तिशाली आग है। आग से अधिक शक्तिशाली पानी है। किंतु संकल्पशक्ति सर्वशक्तिमान होती है। अहिंसा धर्म या जैन धर्म हमें सदैव यही संकल्पशक्ति प्रदान करते हैं। इसी संकल्पशक्ति के आधार पर हम ठोस उपलब्धियों के लिए सतत प्रयत्नशील रह सकते हैं। सफलता और विजय प्राप्त करने के लिए सदैव सकारात्मक नजरिया रखना चाहिए। सकारात्मक शिक्षा या प्रशिक्षण हमें सकारात्मक सोच प्रदान करता है। हमें सदैव सकारात्मक विचार और अच्छा नजरिया विकसित करना चाहिए। सकारात्मक विचारों और अच्छे नजरियों का विशाल भंडार बनाया जा सकता है। हमें सही ज्ञान और सही समझ विकसित करनी चाहिए। हम अपनी आजीविका के अच्छे साधन जुटाएं और अच्छा जीवन जीएं। हम अपने आध्यात्मिक मूल्यों, साधनों, अपने सामाजिक, राजनीतिक एवं वित्तीय प्रभाव का सदुपयोग कर यह सुनिश्चित करें कि हमारी सामाजिक एकता अखंडित हो। हमारा समाज सदैव सुदृढ़ हो।

मंदिर-निर्माण में चार प्रकार के शिल्पियों की भूमिका रहती है। प्रत्येक शिल्पी का एक ही लक्ष्य और एक जैसी ही भूमिका होती है, किंतु यदि उनके कार्य के संबंध में पूछा जाए तो वे अपने व्यक्तित्व की धवलता के आधार पर अलग-अलग उत्तर देते हैं। उदाहरणस्वरूप चारों शिल्पियों के उत्तर निम्नांकित हो सकते हैं :

प्रथम शिल्पी—आप नहीं देख रहे हैं कि मैं पत्थर तोड़ रहा हूं।

द्वितीय शिल्पी प्रसन्नता से बोला कि मंदिर के खंभे का निर्माण कर रहा हूं।

तृतीय शिल्पी ने उत्साह एवं प्रसन्नता से उत्तर दिया कि मंदिर का निर्माण कर रहा हूं।

चतुर्थ शिल्पी ने जोश, उत्साह, प्रसन्नता, आत्म-विश्वास एवं संकल्पपूर्वक कहा कि समाज के सर्वतोमुखी विकास एवं आत्मिक शांति के लिए विशाल मंदिर का निर्माण कर रहा हूं।

हम चतुर्थ शिल्पी की भांति चिंतन करें। भगवान महावीर का यही चिंतन था। आज हमारे आचार्यों का भी यही चिंतन है।

हम भले ही छोटा-सा कार्य कर रहें हों, किंतु उसके सर्वोच्च एवं अंतिम लक्ष्य का ध्यान रखना चाहिए। हम अपने कार्य को छोटा न समझें। छोटे से छोटा कार्य भी हम पूर्ण रुचि एवं आत्म-सम्मान से करें। छोटे से छोटा व्यक्ति भी अपने छोटे से छोटे कार्य को करते हुए विराट लक्ष्य, अंतर्निहित सिद्धांत एवं आधारभूत पहलुओं का ध्यान रखे, अपने छोटे-से कार्य को विशाल परिदृश्य दे। ओछी मानसिकता व घटिया सोच से दूर रहे।

हमें अपने व्यक्तित्व को शुद्ध, सात्त्विक और पवित्र बनाना चाहिए। अपने व्यक्तित्व को शारीरिक, शाब्दिक, वैचारिक, मानसिक एवं भावनात्मक प्रदूषण से बचाएं। हम अपने परिजनों, मित्रों की व्यक्तिगत, भावनात्मक, सामाजिक, व्यावसायिक एवं आध्यात्मिक प्रगति में पूर्ण सहयोग करें। हम उन्हें भय-विहीन एवं साहसी बनाएं। उन्हें सुरक्षा-तंत्र एवं सुरक्षा-कवच उपलब्ध कराएं। हम उनके ज्ञान की धार को सदैव तेज करते रहें। हमें अध्यात्म-समाज और राजनीति के मंच से प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसा-प्रधान जीवनशैली अपनाने और अहिंसा का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए प्रेरित करना चाहिए ताकि समूचा विश्व हिंसा व तनाव से मुक्त हो सके।

कट्टरपंथी, धार्मिक उन्मादी, उग्रवादी व संकुचित सांप्रदायिकता और अलगाववाद के पथ पर आगे बढ़कर संकीर्ण धार्मिक कट्टरता से सामाजिक एकता तोड़ने का प्रयास होता है। हम ऐसे व्यक्तियों से सावधान रहें। उनका साथ नहीं दें। यह आवश्यक हो गया है कि जैन धर्म के उदारवादी, सहनशील और शांतिप्रिय व्यक्ति मंच पर आगे आएं और अपने धर्म की सही पहचान स्थापित करें। हम यह सुनिश्चित करें कि हमारी पहचान शांति और मानवीयता के शाश्वत मूल्यों पर आधारित हो।

हमारा धर्म, हमारे कर्तव्यों और दायित्वों पर आधारित है। हम अपने साथियों को प्रेम, मैत्री, सहिष्णुता, विनम्रता, सांप्रदायिक सद्भाव, मानवीय एकता, अनासक्ति, अपरिग्रह आदि सकारात्मक भावों का प्रशिक्षण दें। उनके नकारात्मक भावों को सकारात्मक भावों में परिवर्तित करें। हमें प्रत्येक व्यक्ति में अहिंसा के संस्कार निर्मित करने चाहिएं कि अहिंसा की चेतना जागृत हो सके। इतिहास के महत्त्वपूर्ण मोड़ पर जब दोनों जर्मनी एक हो सकते हैं तब हमारे समाज के भूतकालीन दोनों घटक, वर्तमानकालीन चारों घटक और भविष्यकालीन सभी घटक किसी-न-किसी ऐतिहासिक मोड़ पर अवश्य ही एक हो जाएंगे।

❖

आचार्य महाप्रज्ञ की अमित आस्था अध्यात्म में है। अध्यात्म निर्विशेषण होता है। सविशेषण धर्म से राग उत्पन्न हो सकता है और उसके साथ अत्यंत आसक्ति होने से उन्माद भड़क सकता है। जिस सविशेषण धर्म अर्थात् संप्रदाय पर अध्यात्म का अंकुश होता है वहां धर्म के नाम पर झूठा प्रलोभन और आश्वासन नहीं मिलता। विडंबनाएं नहीं पनपतीं। सत्य-शोध की दृष्टि ओझल नहीं होती। आचार्य महाप्रज्ञ अध्यात्म के उस शिखर का आरोहण कर चुके हैं जहां से वे संपूर्ण अध्यात्म जगत का कुशल नेतृत्व कर सकते हैं। उनके प्रभावलय से विकिरित परमाणु; अणुशक्ति से संत्रस्त इस विश्व को अहिंसा और शांति का एक नया आलोक प्रदान करने में सक्षम है। जीवन के प्रारंभ से लेकर अब तक जिसने अध्यात्म के गीत को गुनगुनाया है, अध्यात्म को कोरा दर्शन नहीं, जीवन का चरित्र बनाया है, उस चैत्यपुरुष की अभिवंदना की ही जानी चाहिए।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि

❑ समणी मंगलप्रज्ञा ❑

चेतना अदृश्य है। पदार्थ दृश्य है। दोनों दो दिशागामी हैं। पदार्थ जगत में जीने वाला स्थूल जगत में जीता है। स्थूल जगत में जीने वाले का संबंध सूक्ष्म जगत से होना कठिन है। चेतना सूक्ष्म जगत का अस्तित्व है। पदार्थ बाह्य जगत में उपस्थित हैं। पदार्थ इंद्रिय-ग्राह्य हैं। इंद्रियों का उनके प्रति सहज आकर्षण है। चेतना इंद्रियों का विषय नहीं बनती—'नो इंदियगेज्झअमुत्तभावा'। अतः इंद्रियों का चेतना के प्रति कोई आकर्षण नहीं है। इंद्रियों की गति विषय-भोग की ओर है। भोगाकांक्षा मन की सहज प्रवृत्ति है। त्याग का मार्ग उसके लिए असहज है। पौद्गलिक जगत में भोग का आस्वाद लेना स्वाभाविक घटना है। त्याग का जीवन स्वीकार करना उस जगत की अस्वाभाविक घटना है। चैत्यपुरुष वही होता है जो अपने अस्तित्व की आराधना करता है, पदार्थ जगत में अस्वाभाविक लगने वाली घटना जिसके जीवन का मूल आधार होती है, चेतना का ऊर्ध्वाकर्षण जिसके जीवन का लक्ष्य होता है। चैत्यपुरुष का लक्षण है—सच्चिदानंद की अनुभूति। आचार्य महाप्रज्ञ का जीवन सच्चिदानंद का जीवंत निदर्शन है। वे अपने अस्तित्व की आभा को चिद्विलास से अनुप्राणित कर आनंद के अर्णव में सदैव निमज्जित रहते हैं। वे चैत्यपुरुष गीत के कोरे संगायक ही नहीं किंतु साक्षात् चैत्यपुरुष हैं। व्यवहार जगत में एक सामान्य पुरुष की जीवनचर्या निर्वाह करते हुए भी निश्चय में वे अखंड चैतन्य की आराधना में संलग्न हैं। उस अखंड चैतन्य की आराधना से व्यवहार जगत में उनके द्वारा चैतन्य के ऐसे स्फुलिंग प्रस्फुटित हो रहे हैं जो सघन अंधकार में आकंठ डूबी मानवता का पथ-दर्शन कर रहे हैं।

आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी (4 जुलाई) • जन्मोत्सव पर विशेष

आचार्य महाप्रज्ञ एक ऐसे चैतन्य का नाम है जिसके कण-कण में मैत्री और करुणा की अजस्र स्रोतस्विनी प्रवाहित है। प्रज्ञा का ऐसा महासमंदर है, जिसके गर्भ में बहुमूल्य रत्नों का वास है। एक ऐसा अम्लान पारिजात है जो सबकी मनोकामना पूर्ण करता है। महाप्रज्ञ एक ऐसा नाम है जो अनाम की विशिष्ट साधना में निरत है, एक ऐसा व्यक्ति जो अनेक आयामों से अभिमंडित है।

समाधान बल के स्रष्टा

चैत्यपुरुष वह होता है जिसके पास समाधान का बल हो। जिसका चैतन्य जागृत होता है वही समस्या का समाधान दे सकता है। आचार्य महाप्रज्ञ के पास समाधान के सूत्र उपलब्ध हैं। उनका अतीत समाधान पुरुष की छवि को संजोए हुए है। आचार्यश्री तुलसी के साथ बीता उनके जीवन का प्रलंब कालखंड इस सत्य को अभिव्यक्त कर रहा है। आचार्य तुलसी के हर चिंतन, हर निर्णय एवं हर क्रियान्वयन में महाप्रज्ञ की सह युति

थी। उस युग में इस महापुरुषद्वयी ने वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं के ऐसे समाधान प्रस्तुत किए जिनकी अनुगूंज अंतरराष्ट्रीय क्षितिज तक पहुंची है।

आचार्य महाप्रज्ञ वर्तमान में 'अहिंसा-यात्रा' का महत्त्वपूर्ण उपक्रम संचालित कर रहे हैं। हाल ही में हिंसा की आग में जलते गुजरात पर अहिंसा की अमियपगी शीतल वर्षा पीड़ा के क्रंदन का शमन कर रही है। सांप्रदायिक अभिनिवेश से उत्पन्न पारस्परिक संदेह के वातावरण को पारस्परिक विश्वास में बदलने का अद्भुत कार्य आप द्वारा वर्तमान में संपादित हुआ है। जगन्नाथ रथयात्रा को लेकर गुजरात सरकार ही नहीं, केंद्रीय सरकार भी अत्यंत चिंतित थी। बड़े से बड़े अधिकारी जिस चुनौती को गंभीर मान रहे थे, आचार्य महाप्रज्ञ के अहिंसात्मक प्रयासों से वह यात्रा सौहार्दपूर्ण वातावरण में संपन्न हो गई। तब समूचे राष्ट्र ने सुख की सांस ली। आचार्य महाप्रज्ञ का अहिंसा-बल इतना सशक्त है कि उनके आभामंडल में प्रवेश करते ही अनेक समस्यात्मक तत्त्व स्वतः ही समाधान की राह खोज लेते हैं। अहमदाबाद के महापौर ने 'की ऑफ द सिटी' आचार्य महाप्रज्ञ को सौंपते हुए कहा था—इस शहर का सौभाग्य अब आपके ही हाथों सुरक्षित रह पाएगा। हिंसा से संत्रस्त यहां के जन आपके अहिंसात्मक आभावलय में सुख से रह सकेंगे।

अध्यात्मबल के उन्नायक

आचार्य महाप्रज्ञ की अमित आस्था अध्यात्म में है। अध्यात्म निर्विशेषण होता है। सविशेषण धर्म से राग उत्पन्न हो सकता है और उसके साथ अत्यंत आसक्ति होने से उन्माद भड़क सकता है। जिस सविशेषण धर्म अर्थात् संप्रदाय पर अध्यात्म का अंकुश होता है वहां धर्म के नाम पर झूठा प्रलोभन और आश्वासन नहीं मिलता। विडंबनाएं नहीं पनपतीं। सत्य-शोध की दृष्टि ओझल नहीं होती। आचार्य महाप्रज्ञ अध्यात्म के उस शिखर का आरोहण कर चुके हैं जहां से वे संपूर्ण अध्यात्म जगत का कुशल नेतृत्व कर सकते हैं। उनके प्रभावलय से विकिरित परमाणु; अणुशक्ति से संत्रस्त इस विश्व को अहिंसा और शांति का एक नया आलोक प्रदान करने में सक्षम है। जीवन के प्रारंभ से लेकर अब तक जिसने अध्यात्म के गीत को गुनगुनाया है, अध्यात्म को कोरा दर्शन नहीं, जीवन का चरित्र बनाया है, उस चैत्यपुरुष की अभिवंदना की ही जानी चाहिए।

शक्ति-संगायक

कोरी भक्ति में आचार्य महाप्रज्ञ का विश्वास नहीं है। उनका अभिमत है—शक्ति के बिना भक्ति भी अधूरी है। कमजोर व्यक्ति की भक्ति लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकती। सफलता के लिए शक्ति का प्रस्फोट आवश्यक है। व्यक्ति के भीतर अनंत शक्ति का स्रोत विद्यमान है, किंतु वह उससे अपरिचित है। आचार्य महाप्रज्ञ उस अज्ञात खजाने की ओर इंगित करते हुए कहते हैं—'तुम अनंत शक्ति के स्रोत हो।' जब तक स्वयं की शक्ति का जागरण नहीं होता तब तक जीवन के उत्कृष्ट लक्ष्य की प्राप्ति मात्र दिवास्वप्न रह जाती है। पराई शक्ति का भरोसा अंत में धोखा भी दे देता है। अतः स्वयं की शक्ति का जागरण होना चाहिए—यह आचार्य महाप्रज्ञ का अभिमत है। वे बहुधा अपने प्रवचनों के दौरान कहा करते हैं—मैं शाक्त संप्रदाय से संबंधित नहीं हूं, किंतु मैं शक्ति का उपासक हूं। शक्तिहीन व्यक्ति न सच्चा अहिंसक हो सकता है और न ही आध्यात्मिक। शक्ति के अभाव में शांति की कल्पना भी अधूरी रह जाती है। इसी तथ्य को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—'सुख के लिए मन का शांत होना अनिवार्य है और मन की शांति के लिए शक्ति का होना अनिवार्य है'। शक्ति कोरी विध्वंसात्मक ही नहीं होती, उसका सृजनात्मक रूप भी होता है, वही महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी होता है। शक्ति अपने-आप में शक्ति होती है। उसका अच्छा या बुरा रूप प्रयोक्ता पर निर्भर करता है। अणुशक्ति संहारक भी है और उपकारक भी है। प्रयोक्ता जिस उद्देश्य के लिए उसका प्रयोग करता है वह उसी दिशा में गतिशील हो जाती है।

आचार्य महाप्रज्ञ का विश्वास सृजनात्मक शक्ति में है। उस सृजनात्मक शक्ति का स्रोत वे आवेग और संवेग के नियंत्रण को मानते हैं। शक्ति के स्रोत की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—'शक्ति का स्रोत क्या है? वह है भावना, कषाय पर नियंत्रण। इसे मनोविज्ञान की भाषा में 'इमोशनल डेवलपमेंट' कहते हैं। 'इमोशन' या भावना का विकास होता है तो आदमी में शक्ति आ जाती है। हमारी शक्ति को क्षीण करने वाला मुख्य तत्त्व है—'इमोशन' या आवेश। जितने आवेश आते हैं, वे शक्ति को क्षीण करते हैं। क्रोध का आवेश बढ़ा, शक्ति क्षीण हो जाएगी। आवेश का काम ही शक्ति को क्षीण करना है। शक्तिशाली होने के लिए अपने आवेगों पर नियंत्रण रखना बहुत जरूरी है।'

शक्ति बाहर से नहीं आती, उसका स्रोत आंतरिक है। बाह्य पदार्थों से अर्जित शक्ति आवेग-नियंत्रण के अभाव में विध्वंसक बन जाती है। इसलिए आचार्य महाप्रज्ञ का आग्रह आवेग-नियंत्रण की प्रक्रिया को अपनाने पर है। जिस व्यक्ति का संवेग/आवेग-नियंत्रण में नहीं होता वह अपने संपूर्ण परिपार्श्व के लिए दुखदाई बन जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान के माध्यम से आवेग-नियंत्रण के

महत्त्वपूर्ण उपाय सुझाए हैं जिनका प्रयोग करके व्यक्तित्व में परिवर्तन लाया जा सकता है। आचार्यवर का विश्वास कोरे सिद्धांत में नहीं है। जो सिद्धांत प्रयोग न बन सके, उससे अधिक भला नहीं हो सकता। परिवर्तन के लिए प्रयोग आवश्यक है। प्रयोग केवल विज्ञान जगत में ही अनिवार्य नहीं है, अध्यात्मशक्ति के अनावरण के लिए भी प्रयोगों की महती आवश्यकता है। अध्यात्म-प्रयोक्ता ही चैत्यपुरुष की भूमिका पर प्रतिष्ठित हो सकता है।

श्रद्धा-समर्पण के पुरोधा

आचार्य महाप्रज्ञ के संपूर्ण जीवन पर एक दृष्टि डालते हैं तो सबसे पहले उनके जो गुण मुखर होते हैं उनमें प्रमुख हैं—श्रद्धा एवं समर्पण का बल। आज वे सफलता के जिस मुकाम पर पहुंचे हैं—उसके पीछे उनका समर्पण एवं श्रद्धा का स्वर अनुगुंजित है।

बचपन में उनकी श्रद्धा अपनी मां के प्रति थी। अपनी उस श्रद्धा की अभिव्यक्ति उन्होंने स्वयं आचार्य पदाभिषेक समारोह के अवसर पर कृतज्ञता के रूप में प्रकट करते हुए कहा—'मैं इस अवसर पर अपनी स्वर्गीय माता साध्वीश्री बालूजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। उन्होंने मुझे अध्यात्म के संस्कार दिए।' श्रद्धाहीन व्यक्ति कभी भी कृतज्ञ नहीं हो सकता। यों कहा जा सकता है कि आचार्य महाप्रज्ञ की प्रकृति ही श्रद्धा-गुण से संवलित रही है। इस स्वभाव के निर्माण के लिए उनको कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा। सहजता जैसे उनको जन्मजात प्राप्त है, वैसे ही श्रद्धा भी उन्हें जन्मजात मिली है। श्रद्धा और समर्पण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां श्रद्धा होगी वहां समर्पण भी होगा। श्रद्धा की पराकाष्ठा ही समर्पण की पराकाष्ठा है। आचार्य महाप्रज्ञ का मां के प्रति बचपन का उपजा श्रद्धा-समर्पण भाव ही दीक्षा-गुरु कालू, शिक्षा-गुरु तुलसी के प्रति बढ़ता हुआ आज सत्य-शोध के प्रांगण में वटवृक्ष का रूप लेकर लहलहा रहा है। सत्यशोध में उनका अनाग्रही दृष्टिकोण सत्य के प्रति उनके अनुत्तर समर्पण और श्रद्धा को ही अभिव्यक्त कर रहा है। श्रद्धा एवं समर्पण का जीवन जीने वाला उल्लास एवं सरसता का जीवन जीता है, आनंद का जीवन जीता है। आचार्यश्री के जीवन के हर चरण पर उल्लास और आनंद का दर्शन किया जा सकता है। सरसता ने उनके जीवन को सरसब्ज बना रखा है। आचार्य महाप्रज्ञ श्रद्धा और समर्पण के परम उपासक रहे हैं। उनकी ही लेखनी से प्रस्तुत है यह सत्य—'श्रद्धा मानसिक उल्लास भी पैदा करती है। जो सरसता का जीवन जीना चाहता है उसे भक्ति और श्रद्धा में विश्वास करना होगा। वर्तमान युग की एक ज्वलंत समस्या है—अवसाद (डिप्रेशन), इससे जीवन नीरस हो जाता है। सरसता के बिना जीवन अच्छा नहीं रह सकता।'

श्रद्धा का रस गहरा और सघन होना आवश्यक है। वह सघन होता है तो जीवन कभी नीरस नहीं बनता। प्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने कहा—'श्रद्धा और रोटी का योग कोरा विचार ही नहीं, किंतु एक सचाई है। श्रद्धामय जीवन हो तो नीरसता स्वतः मिट जाती है। श्रद्धा अंधविश्वास नहीं है, पवित्र चेतना का विकास है, शक्ति का अजस्र और अक्षय स्रोत है।' आचार्य महाप्रज्ञ के श्रद्धाबल एवं समर्पण-बल ने उन्हें अमाप्य ऊंचाइयां प्रदान की हैं।

समर्पण एवं श्रद्धा में कोई शर्त नहीं होती। समर्पण निर्विकल्प होता है। सविकल्प समर्पण सौदा कहलाता है। आचार्य महाप्रज्ञ का समर्पण सौदा नहीं, उनकी साधना है। उनका जीवन है। समर्पित व्यक्ति फल का आकांक्षी नहीं होता, किंतु उसका समर्पण स्वतः ही फलवान बनता है। उनके निर्विकल्प समर्पण का मूल्यांकन करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने लिखा—'समर्पण को जानने, देखने और जीने का भी एक तरीका होता है। महाप्रज्ञ ने समर्पण को जाना है, देखा है और जीया है। इन्होंने अनुभव किया है कि विकास के शिखर पर आरोहण करने के लिए समर्पण के सोपान का सहारा लेना आवश्यक है। इसीलिए इनके चिंतन और व्यवहार के वातायन पर समर्पण की रश्मियां अठखेलियां करती रहती हैं। महाप्रज्ञ के समर्पण की सैकड़ों घटनाओं का साक्षी मैं स्वयं रहा हूं। मुझे कोई भी प्रसंग ऐसा याद नहीं आता, जिसमें मैंने महाप्रज्ञ को किसी काम के लिए निर्देश दिया हो और इन्होंने उसकी क्रियान्विति न की हो। छोटा-बड़ा, तात्कालिक-दीर्घकालिक, सैद्धांतिक-प्रायोगिक—कैसा भी काम क्यों न हो, निर्देश मिलते ही इनका ध्यान उस पर केंद्रित हो जाता है।'

आचार्य महाप्रज्ञ का समर्पण मात्र उनके लिए ही नहीं, किंतु संपूर्ण मानव जाति के लिए फलवान बन गया है। जिसके मधुर-फल के रसास्वादन का अवसर, जो लेना चाहे उन सबको प्राप्त है। उनकी सर्वोदयी विचारधारा में अपना या पराया कुछ नहीं है। सबका उदय हो, निश्रेयस हो—यह उनके जीवन का स्वर्णिम सूत्र है। इन्हीं दुर्लभ विशेषताओं ने उन्हें चैत्यपुरुष बना दिया है।

अनेकांत के प्रयोक्ता

आचार्य महाप्रज्ञ अनेकांत के उत्कृष्ट कोटि के व्याख्याता मात्र ही नहीं, किंतु अनुत्तर प्रयोक्ता भी हैं। उनकी

जीवनशैली का केंद्रीय तत्त्व अनेकांत है। अनेकांत का दर्शन उनके जीवन के समग्र क्रिया-कलाप/व्यवहार में परिलक्षित है। आचार्य महाप्रज्ञ का व्यक्तित्व ही अनेकांत का जीवंत निदर्शन है। महापुरुष के चरित्र का वर्णन करने वाले कवि की यह पंक्ति उनके व्यक्तित्व पर सटीक बैठती है—वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।

वे अपने स्वीकृत संकल्प की अनुपालना में वज्र से भी अधिक कठोर हैं तथा पर-पीड़ा के प्रसंग में वे फूलों से भी अधिक सुकोमल हैं। करुणा से आप्लावित उनके अंतःकरण की कोमलता के सामने प्रकृति-प्रदत्त सुकोमलता के धनी पुष्प भी नतसिर हैं। उनके वात्सल्य एवं करुणापूरित व्यवहार से हर आने वाला व्यक्ति उनका होकर रह जाता है। उनके स्व का इतना विस्तार हो चुका है कि जहां पराया कोई होता ही नहीं। अतः परस्पर विरोधी माने जाने वाले धर्म-संप्रदाय के लोग भी उन्हें अपना ही मानते हैं।

आचार्य महाप्रज्ञ के व्यवहार, प्रवचन, लेखन—सभी में हमें अनेकांत के दर्शन होते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ की इसी विशेषता को प्रकट करते हुए प्रो. दयानंद भार्गव ने लिखा है—'आचार्य महाप्रज्ञ अनेकांत के उपासक हैं। उन्हें लगा कि दर्शन की शुष्कता एवं कविता की सरसता, साधना की अंतर्मुखता और समाजशास्त्र की बहिर्मुखता एक-दूसरे के पूरक हैं। इसलिए उन्होंने अपने-आप को किसी एकांत आग्रह से बांधकर नहीं रखा। इसी कारण इनके साहित्य में नई प्रवृत्तियों का नित्य समावेश होता रहा।'

आचार्य महाप्रज्ञ की अनेकांत दृष्टि का मुख्य आधार जैन वाङ्मय है। भगवान महावीर द्वारा उद्‌गीत अनेकांतवादी दृष्टि को सहजभाव से प्रकट करने की कला के वे एक सिद्धहस्त व्याख्याकार हैं। दूसरी ओर गहन-गंभीर विषय को भी सहजता एवं सरलता से प्रस्तुत करने का उनका एक अपना अलग ही अंदाज है। उनके साहित्य एवं प्रवचनों में इस कौशल का पग-पग पर साक्षात्कार उनके पाठकों एवं श्रोताओं को होता रहता है।

आचार्य महाप्रज्ञ के चिंतन-दर्शन, लेखन-प्रवचन में अनेकांत के अनुप्रयोग अनेक विरोधों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए बखूबी होते रहे हैं। कहना चाहिए कि अनेकांत के अनुप्रयोग के कारण ही उनका साहित्य, लेखन, प्रवचन सर्वग्राह्य बन सके हैं। उनमें सभी को अपनत्व लगता है। नयापन लगता है। यह अपनत्व की डोर विस्तृत ब्रह्मांड में अनेक को एकता की डोर में थामे है। जो भेद में अभेद का पारखी होता है—वही चैत्यपुरुष होता है।

आचार्य महाप्रज्ञ का जन्मदिन किसी व्यक्ति का जन्मदिन नहीं, किंतु एक संस्कृति का जन्मदिन है। मैत्री, करुणा, अहिंसा, अनेकांत का जन्मदिन है। इस चैत्यपुरुष की अभिवंदना करते हुए यही मंगलकामना है कि चिरकाल तक आपकी प्रज्ञा-रश्मियां समग्र विश्वचेतना का पथ-प्रदर्शन करती रहें। ❖

परीक्षा की घड़ी

हम ऐसे युग में रह रहे हैं जब कि संघर्ष और विच्छिन्नता हमारे राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय जीवन की स्वाभाविक विशेषता बन गई है। किंतु समाज के इस असंतुलन के कारण हमारा यह परम कर्तव्य हो जाता है कि हम नए सामंजस्य की स्थापना के लिए पूरी शक्ति के साथ प्रयत्नशील हों। कुछ लोग भग्नोत्साह होकर निष्क्रिय हो रहे हैं अथवा रहस्यवाद की गोद में शरण ले रहे हैं और कुछ लोग मनुष्य और समाज के कल्याण के लिए कार्य करने का इसे सबसे बड़ा अवसर देखते हैं। इतिहास आज सबकी कड़ी परीक्षा ले रहा है। हमें इतिहास के उस महान आंदोलन का साथ देना है जो आज की सभी परीक्षाओं और संकटों के बावजूद अंत में समाज को एक नया संघटन प्रदान करेगा और सार्वभौमिक शांति और समृद्धि के युग को लाने वाला सिद्ध होगा। प्रत्येक शिक्षा केंद्र को इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होना है।

—आचार्य नरेंद्रदेव

जैन कथा

एक हाथ की ताली

केन्निन मठ का श्रमण था, मोकुराइ—एक निर्वाक मेघ-गर्जन, एक अवाक विद्युत! उसका एक नन्हा-सा अनुयायी था, तोयो। जिसकी उम्र थी केवल बारह वर्ष। तोयो प्रतिदिन सांझ-सकारे चुपचाप देखता कि बड़े-बड़े बुजुर्ग उसके गुरु के पास उपासना सीखने आते हैं, ध्यान सीखने आते हैं। शांति और निर्वाण के अनेक सूत्रों की अभिज्ञता प्राप्त करने आते हैं।

उपासना सीखने के लिए तोयो के मन में जबरदस्त ललक थी।

'कुछ समय तक धीरज रखो।' मोकुराइ ने समझाया, 'अभी तुम्हारी बहुत छोटी उम्र है।'

किंतु बच्चे ने बहुत हठ किया तो गुरु को स्वीकृति देनी पड़ी।

सांझ की वेला निश्चित समय पर तोयो मोकुराइ के उपासना कक्ष की देहरी के पास आकर खड़ा हो गया। उसने घंटा बजाकर अपने आने की सूचना दी। तीन बार श्रद्धा से दरवाजे के बाहर नमन किया और गुरु के सामने प्रणत होकर चुपचाप बैठ गया।

'दो हथेलियों से बजने वाली ताली की आवाज तो तुम सुनते ही हो।' मोकुराइ ने कहा, 'पर तुम मुझे एक ताली की आवाज सुनकर बताओ।'

तोयो गुरु के सामने श्रद्धा से झुका और उस समस्या का समाधान खोजने के लिए अपने कमरे में गया। कमरे की खुली खिड़की से उसने गणिका के गाने की आवाज सुनी। 'मिल गया, मुझे समाधान मिल गया।' स्वयं को आश्वस्त करते हुए उसने मन-ही-मन कहा।

दूसरे दिन सांझ की वेला गुरु ने अपनी शंका का समाधान मांगा। तोयो ने उसके जवाब में गणिका का वही संगीत प्रस्तुत किया।

'नहीं, नहीं।' मोकुराइ ने अस्वीकृति प्रकट करते हुए कहा, 'यह नहीं चलेगा। यह एक हाथ की ताली नहीं है। तुम उसका समाधान नहीं खोज पाए।'

शायद उस संगीत से बाधा उपस्थित हुई हो। यह सोचकर तोयो निर्जन एकांत जगह पर चला गया। वह फिर ध्यान में लीन हो गया। 'एक हाथ से ताली क्योंकर बज सकती है? भला उसकी क्या आवाज होती होगी?' सहसा उसने झरने के पानी की आवाज सुनी! 'मिल गया, इस बार पुख्ता समाधान मिल गया।' तोयो मन-ही-मन आश्वस्त हुआ।

दूसरे दिन सांझ की वेला वह गुरु के सामने हाजिर हुआ तो उसने झरने की नकल करते हुए वैसी ही ध्वनि प्रस्तुत की।

'यह कैसी आवाज है?' गुरु ने जानना चाहा। 'ओह! यह तो झरने की आवाज है। एक हाथ से ताली बजने की आवाज नहीं है! और कोशिश करो।'

तोयो ने उसके बाद कई बार ध्यान लगाकर एक हाथ से ताली बजने की आवाज सुननी चाही। पर निरर्थक, एक बार भी उसे सफलता नहीं मिली। उसने हवा की सांय-सांय सुनी और गुरु को बताई। वह आवाज भी उनकी दृष्टि में अपर्याप्त थी।

उसने उल्लू की इकहरी आवाज सुनी पर वह भी अस्वीकृत हो गई।

टिड्डीदल की आवाज भी, एक हाथ की ताली नहीं थी।

दस बार से ज्यादा तोयो, मोकुराइ के पास उपस्थित हुआ, तरह-तरह की आवाजों का अनुभव लेकर। किंतु वे सभी गलत थीं। करीब एक वर्ष तक तोयो निरंतर इस जिज्ञासा में खोया रहा कि एक हाथ से ताली कैसे बज सकती है? उसकी आवाज कैसी होती होगी?

अंत में सब तरह से हताश होकर नन्हा तोयो सच्चे मन से ध्यान में लीन हो गया। विश्व-जगत की समस्त लौकिक आवाजों को पार कर वह लोकातीत अवस्था में जा पहुंचा। 'अब मुझे किसी भी आवाज की भनक सुनाई नहीं पड़ती।' उसने बाद में गुरु को बतलाया कि ध्वनिरहित ध्वनि का अनहद नाद उसे सुनाई पड़ने लगा है।

आखिर तोयो को एक हाथ से बजने वाली ताली की आवाज का साक्षात्कार हो ही गया।

❖

भाई वीर सिंह की कविताएं

पतझर से

अरे भाई पतझर! बता—
क्या वही है तू जो था फलदार?
खिली हुई थी जिसकी गुलजार,
खूब हरे थे जिसके सबजा जार
पीली पड़ गई वही घास
हो रहा आज उदास!

कुम्हलाए तेरे फूल
सिर झुकाकर खड़े उदास
सूखकर गिर रहे हैं

मां जैसे बिछुड़ी बेटे से
फलदार हुए फलहीन,
दिखते ज्यों करते विलाप।

पत्ते भी हुए बदरंग
गिरते जाते झोंकों के संग।

•

पतझर में सर्दी की धूप

बह रही सुहानी पवन
आती बरफों को चूम
ठंडी हवा से लगती ठंड
बहती चुपचाप, न कोई आवाज!

करती खत्म पाले को 'धूप'
सूर्य लोक से भागी आती,
ठिठुरते हुओं को गोदी में भरकर
मां के समान गरमाती।

छुट्टी ही छुट्टी है फुरसत ही फुरसत है
गगन से झरती आती
एकांत, एकांत, एकांत
यह सांईयां जी का है प्रभाव
चाव से भरी महक की तरह
शांति शांति है सुंदर यह चाव।

मुंदती आंखें और अंदर ही अंदर
स्व है स्व की ओर उन्मुख
मेरे सांईयां का जो देश
प्रवेश पाता जा रहा हम में।

•

प्रार्थना

(सागर तीर पर पीपल की पत्ती की नोंक पर लटकी जब बूंद की—)

हे सागर! शक्तिमान सागर!
लहराते लहराते सागर!
लटकी पीपल पात नोंक से
मिलूं कैसे? रत्नाकर!

जो कूदूं तो गिर पडूंगी रेत में
उड़ सकने की शक्ति नहीं
तुम ही उछलकर लपक लो
इस उछाह में भरी बूंद को तुम
हे मेहरबान नागर!

•

अचानक मिली झलक

फिसल पड़ी मेरे हाथ से पूनी
मौन हुई चरखे की गूंज
चांद आकाश का धरा पे उतरा
मूर्ति उसकी मुझसे न देखी गई
न पहचानी गई।

कांप उठी आंखों की ज्योति
प्राण खिंचकर प्राणों में समा गए
दर्शन में समा जाऊं, या दर्शन का आनंद लूं
लहर पर चढ़ती है लहर हर्षित होकर।

❖❖

शीलन

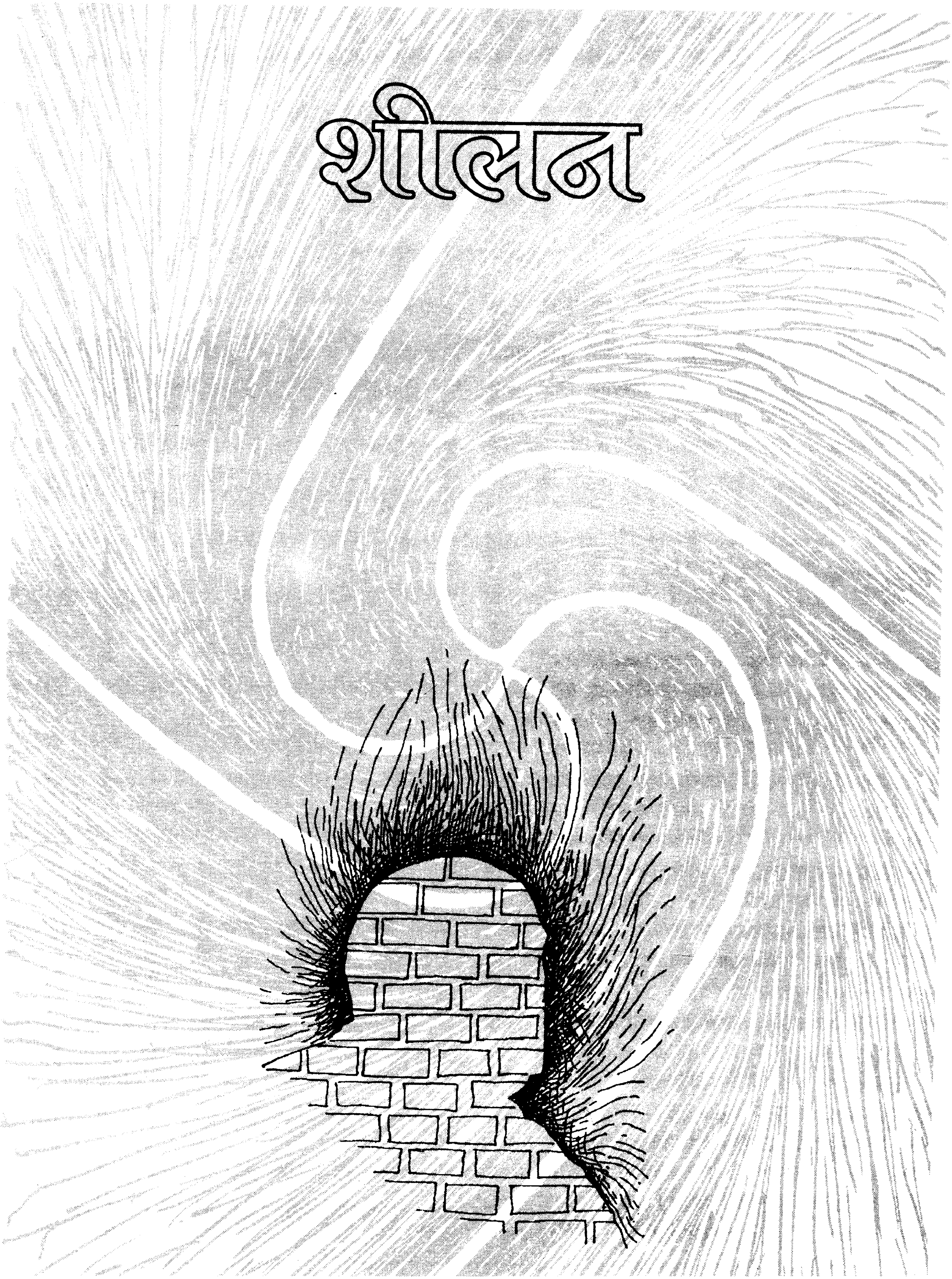

पुराने संस्कारों के साथ नए विचारों का विचित्र मिश्रण चल रहा है। सब समय सबके लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि जीवन–व्यापारों का जो मान परिवर्तित हो रहा है उनका वास्तविक स्वरूप और उपयोगिता क्या है। इस बात की ठीक–ठीक जानकारी के लिए गंभीर अध्ययन और अनासक्त दृष्टि की आवश्यकता है। इसलिए हमारा सबसे प्रथम कर्तव्य है गंभीर अध्ययन और अनासक्त दृष्टि की प्राप्ति। देश और काल में व्याप्त मनुष्य के प्रत्येक अंग का सूक्ष्म अध्ययन करते ही हम उसके विचारों और क्रियाओं का यथार्थ स्वरूप समझ सकते हैं और बदलनेवाले या बदले हुए मानों की वास्तविक गति और उपादेयता जान सकते हैं। इसके लिए कठोर परिश्रम की आवश्यकता है। इसी अध्ययन के द्वारा हम अपनी समस्याओं का ठीक–ठीक स्वरूप समझ सकते हैं इसलिए गंभीर अध्ययन हमारा प्रथम कर्तव्य है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

आज हममें से कितने हैं, जो वसुधा का अर्थ समझते हैं और कुटुंब की तो बात ही जाने दीजिए, अणुकुटुंब के युग में जी रहे हैं, वह अणुकुटुंब भी अब परमाणु कुटुंब हो गया है, क्योंकि बच्चा या तो नानी-दादी-बुआ के बैंक में सेफ डिपॉजिट में है, या अभी आया नहीं है।

भारतीय सनातन मूल्य

❑ विद्यानिवास मिश्र ❑

आज जब हम कुछ ज्यादा ही आत्मगौरव से स्फीत या, ठीक कहें, पीड़ित होते हैं तो कहते हैं, हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मानने वाले हैं, हम समस्त विश्व को एक नीड़ बनाने वाले हैं, हम बहुत उदार हैं, परंतु भीतर-भीतर हम त्रिपुरारि के तबेले वाली स्थिति में रहते हैं। परिवार का हर सदस्य हर दूसरे सदस्य से रार-तकरार मचाए रहता है, इस कुटुंब में बस जहर का प्याला पीकर सो जाने की तबीयत होती है। इसका कारण यह है कि हम अपने आदर्शों को जीते नहीं, उन्हें शब्द के रूप में भी नहीं दुहराते, उन्हें समय-समय पर बिल्ला बनाकर अपनी पहचान कराने के लिए इस्तेमाल करते हैं कि हम यह नहीं, हम वह हैं। अखिल संसार को चरित्र की शिक्षा देने वाले, सभ्यताओं के उदय के साक्षी, संस्कृति के सिरमौर। आज हममें से कितने हैं, जो वसुधा का अर्थ समझते हैं और कुटुंब की तो बात ही जाने दीजिए, अणुकुटुंब के युग में जी रहे हैं, वह अणुकुटुंब भी अब परमाणु कुटुंब हो गया है, क्योंकि बच्चा या तो नानी-दादी-बुआ के बैंक में सेफ डिपॉजिट में है, या अभी आया नहीं है। पति-पत्नी सुबह से शाम तक अपने-अपने धंधे में उलझे हुए, एक-दूसरे की ओर अभिमुख भी हुए तो बस झींकने के लिए, तुमने बटन नहीं टांकी, तुमसे रात में ही कहा था डबलरोटी खत्म है, नहीं लाए, क्या टिफिन में रखूं और शाम को लौटे तो घर आई एक के बाद एक सुनहले सपनों की लक्ष्मी के रूपहले पर्दे पर अवतरण के दृश्यों में खोए हुए बहुत संक्षिप्त बातचीत और फिर एक शरीर की भूख का शमन, नींद। इसको कुटुंब कहना चाहें तो कह लें, पर है यह कुटुंब का परमाणु में विखंडन।

हमारे पास फुरसत भी तो नहीं है कि सोचें, कोई सोचकर हमें कुछ दे दे और यह भी बता दे कि इसका कब और कैसे उपयोग करेंगे, हम उसका उपयोग कर लेंगे। वसुधा, वसुंधरा, धरा, धरित्री, पृथिवी, मही, भू, भूमि, मेदिनी, श्री, विष्णुपत्नी, इतने सारे नामों की क्या-क्या अर्थच्छटाएं हैं, हमें क्या पड़ी है कि इन्हें समझने की कोशिश करें। मैं भी न करता, पर मेरी लाचारी है कि इन शब्दों की गरिमा से परिचय प्राप्त करूं। 'भू', नाम ही लें, भू का अर्थ होना है। पृथ्वी को भू कहते हैं तो हम होने की प्रक्रिया पर बल देते हैं, पृथ्वी जड़ नहीं, स्थिर नहीं, कुछ-के-कुछ हो रही है, किसी आकर्षण में घूम रही है, किसी प्रकाश पिंड की सापेक्ष है। भूमि का अर्थ, होने की प्रक्रिया को आधार देने वाली, अर्थात् स्वयं तो पृथ्वी परिवर्तनमान है ही, अपने अंक में जिन्हें आश्रय देती है, उनको भी एक-दूसरे के लिए क्रियाशील देखना चाहती है। धरा और धरित्री का अर्थ है धारण करने वाली। धारण करने वाली को बड़ा सहनशील होना पड़ता है, इसलिए पृथ्वी का नाम है धरित्री। क्षमा, सहनशीलता, दुर्बलता नहीं हैं, शक्ति हैं, क्षमता हैं। धरित्री का अर्थ दूसरी मां भी होता है, इसलिए उसे भांति-भांति के पोषक संभार अपनी संतानों के लिए जुटाने होते हैं। दूसरी मां है, इसलिए और अधिक सावधान है, कहीं कोई कुछ अपजस न लगाए! कोई भेद-भाव नहीं बरतती। किसकी क्या बोली है, क्या रूपरंग है, क्या विश्वास है, क्या स्वभाव है, सबका भरण करती है। धरती मैया बड़ी उदार है। इसीसे उसे हम वसुधा और वसुंधरा भी कहते हैं, कितनी संपदा इसके पास है, कितना रस इसके पास है। वसु धन भी है और वसु रहने का, जीवनयापन का साधन भी है। वह देवता भी है, वह जीवन का प्रेरक भी है। वसु का अर्थ जोड़ना नहीं, रहना है; किसी के साथ किसी के लिए रहना है; घर बसाना है। वसुधा का अर्थ इसलिए घर मात्र नहीं है, घर की आत्मीयता भी है। पृथ्वी या पृथिवी का अर्थ विस्तार वाली है, फैलने वाली है, फैलाने वाली है, सबके लिए बांहें फैलाने वाली है। 'मेदिनी, श्री, विष्णुपत्नी' ये नाम

जगत् के पोषक देवता विष्णु के भाव से जुड़े हुए हैं। विष्णु ने मधुकैटभ का वध किया। उसके मेद से अनंत में स्थूल-पिंड बन गया, वही मेदिनी कहलाया है। मधुकैटभ और कुछ नहीं, ललक और कुलबुलाहट है—ललक किसी भी मीठी वस्तु के लिए, जो हमें नहीं मिली और कुलबुलाहट जहां है, वहां न रहने के लिए। पार्थिव होने का अर्थ भी यही है कि हमारे भीतर जीवन की ललक हो, जीवन की आकुलता हो।

ये सभी अर्थ 'श्री' में समाहित हैं। विश्व भर में सबसे पुरानी मूर्तियां, सोने की या मिट्टी की, इसी श्रीदेवी या भूदेवी की मिलती हैं, कभी धान की बालियों के साथ, कभी कमल के साथ, प्रायः खड़ी। श्री का अर्थ शोभा है, पर मूल अर्थ आश्रय देने वाली है, आश्रय देने की प्रकृति है। इन सब अर्थों को समेटने वाली विपुला पृथ्वी की अवधारणा करें तो 'वसुधैव कुटुंबकम्' का आधा अर्थ समझ आ जाए। हमारी वसुधा मानव-जातियों का समूह मात्र नहीं, स्थूल द्रव्यों का संचय मात्र नहीं, नदी, पहाड़, वन, खेत, बस्ती मात्र नहीं, तरह-तरह के पशु-पक्षी, कीट-पतंगों का समुदाय मात्र नहीं, वह इन सबका साथ रहना है, साथ रहने के साथ-साथ एक-दूसरे का अवलंबन लेना है। जिस वसुधा को हम कुटुंब के रूप में देखना चाहते हैं, वह वसुधा कदराने वालों की नहीं है, भयभीतों की नहीं है, कायरों की नहीं है, दूसरे को मिटाकर अपनी वीरता स्थापित करने वालों की भी नहीं है, वह कृपणों की नहीं है, वह दंभियों-अभिमानियों की नहीं है, वह मां के वात्सल्य के अधिकारियों की है, मां के सूत्र से एक-दूसरे से जुड़ी संतानों की है, जो रोते हैं, गाते हैं, हंसते हैं, आपस में धक्का-धुक्की करते हैं तो इसलिए कि मां देख ले, हमारा भाव समझ जाए। इस वसुधा को परिवार के रूप में देखने की अवधारणा एक ऐसे बड़े आंगन की अवधारणा है, जिसमें अनाज पसारा हुआ है, कितने लोगों के परिश्रम से पैदा किया गया अनाज पसारा हुआ है, सूखने के लिए, कितने हाथ उस अनाज को फटक रहे हैं, बीन रहे हैं, बीच-बीच में कितनी चिड़ियां आती हैं, दाना चुगकर भाग जाती हैं, गाय के बछड़े किल्लोल करने आते हैं, मुंह में चार दाना चुगकर डेवढ़ी छलांग जाते हैं। कितने लोग जिन्होंने अनाज पैदा करने में शिरकत नहीं की, हल गढ़ते रहे, कुदाली गढ़ते रहे, मिट्टी के बर्तन गढ़ते रहे (जिनमें अनाज रखा जाएगा), अनाज फटकने के लिए सूप बनाते रहे, डलिया बनाते रहे, आ जाते हैं, अपना हिस्सा पाते हैं, जो बचता है वह बखार में रख जाता है। कितनी तृप्ति है बांटने में, कितनी तृप्ति है, मासूम-नादान हिस्सेदारों से झगड़कर बरबस हिस्सा ले लेने में। वस्तुतः कौन देता है, कौन लेता है, इसका महत्त्व नहीं, महत्त्व इसका है कि यह सबका है—यह इसका है, उसका है, सबका है, मेरा नहीं। मेरा बस यह आंगन है, आंगन का खुलापन है। या फिर सबके चेहरे पर जो एक खुशी की हिलोर आती है, नए अनाज की राशि देखकर, उस हिलोर का एक छींटा मेरे पास जो पहुंचता है, वह मेरा है।

मिट्टी में खेला, मिट्टी में बना। मैं गांव में जनमा, बचपन का बड़ा हिस्सा वहीं बीता, किशोरावस्था की भी बड़ी कशिश की दुपहरी और अंधेरी-उजाली रात गांव में ही बीती। गांवों में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन हुए, शक्ति के नए समीकरण हुए, शहर की सभी न्यामतें वहां पहुंच गईं, शहरी आदतें पहुंच गई हैं, देर से जगना, देर से सोना, शोर-शराबे में एकांत का क्षण पाना। देखता हूं, बच्चे पूरे वाल्यूम पर रेडियो या टी.वी. चला देते हैं, तभी पढ़ पाने की एकाग्रता उन्हें मिलती है, घर से न निकलना। यह जानते हुए भी मुझे वह खुला आंगन बुलाता रहता है, इसमें तुम्हारा भी हिस्सा है, यहां कूटे जाते इस नए धान की महक में, कूटने वाली की चूड़ियों की खनक में, और भरे-पूरे होने की लहक में तुम्हारा भी हिस्सा है। दादा, आओ, ले लो, तुम्हारा हिस्सा किसी और को तो नहीं दे सकता। मुझे गांव की वह अमराई बुलाती है, जहां जेठ की दुपहरी कबड्डी को अर्पित होती थी, और कोई स्वर पुकारता है, गुइंया मेरा दांव दे दो, दांव दिए बिना जाने न पाओगे। गांव से थोड़ी दूर की नदी राप्ती बुलाती है, इसकी एक लहर तो तुम भी हो, क्यों नहीं आकर और लहरों से मिलते। गंगोत्री बछिया, मंगल घोड़ा और दरवाजे का संवरू कुत्ता, कब के चले गए, पर उन सबकी छवियां कभी-न-कभी न्यौतती हैं। गंगोत्री चाहती है, मैं उसके गले के नीचे हाथ डालकर सहलाऊं। मंगल घोड़ा हिनहिनाता है, आओ सवार हो जाओ, तुम्हें सपनों के देश में पहुंचा दूंगा, संवरू कुत्ता दुम हिलाता है और पैरों के पास आकर बैठ जाता है, क्यों नहीं पुचकारते? यही सब तो मेरी वसुधा है, मेरी संपदा है, मेरा संबल है, इनका होकर ही तो मैं हूं। अगर हूं तो 'अस्मि' या 'हूं' का निरंतर अनुभव करने के लिए मुझे सबका होना पड़ेगा, क्योंकि वसुधा सबकी है।

जिस श्लोक के चतुर्थ चरण में 'वसुधैव कुटुंबकम्' आता है, वह पूरा इस प्रकार है :

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

अर्थात्, यह निजी वस्तु है, एकदम अपनी है, यह दूसरे की है, यह आदमी सगा है, यह पराया है, इससे खून का रिश्ता है, इससे नहीं—यह सब हिसाब-किताब वे करते

हैं, जिनका दिल छोटा होता है, जो स्वयं छोटे होते हैं (बड़ी-से-बड़ी संपत्ति क्यों न उनके पास हो); जिनकी करतूत में उदारता है, सब हमारे हैं, सबके हम हैं, सबमें हम हैं, हममें सब हैं, सबसे मुझे लेना है, सबको मुझे देना है, उनके लिए तो पूरी वसुधा आधी-अधूरी नहीं, कुटुंब नहीं, कुटुंबक है, बस नन्हा-सा परिवार है। इतना बड़ा विपुल विस्तार छोटे-से रिश्ते में बंधा हुआ है। बस, मन बड़ा कर लीजिए और वाणी से अधिक कर्म को बड़ा कर लीजिए, फिर क्या! वसुधा की छाती दूध से उपटने लगेगी, बस, मेरे लिए।

मैंने जान-बूझकर भारतीय संस्कृति का नाम तो शुरू में लिया, भारतीय संस्कृति और 'वसुधैव कुटुंबकम्' के बीच क्या तालमेल है, इसकी चर्चा नहीं की। इसका कारण है, भारतीय संस्कृति को इतने गलत संदर्भों में गाहे-बगाहे जबरदस्ती- खींचा जाता है कि मैं भीतर से घबराता हूं कि कहीं मेरे हाथ उसकी दुर्दशा न हो। भारतीय संस्कृति को अपने बाहर की बात मानता ही नहीं, अपने भीतर की बात करूंगा तो अपने आप मैं उस की बात करूंगा, जो हमारे चेतना में बसी हुई है, हम भले ही न जानें, कौन बसा हुआ है। भारत की वसुंधरा ही कहां जानती है, कौन-कौन बसे हुए हैं, कौन-कौन नस्लें हैं, कब ये नस्लें घुली-मिलीं, कौन-कौन भाषाएं हैं और उनके अलग-अलग परिवार हैं, कौन-कौन लोग आये, किसने कितना कहर ढाया, किसने क्या छीना, क्या दिया, कहां वह हिसाब रखती है! इतना जानती है, जो हैं, वे सब हमारी संतान हैं, सब सोने को होते हैं तो चंदा मामा सोने की कटोरी में दूध-भात लाता है, सब जगने को होते हैं तो एक चिड़िया, एक रोशनी की चिनगी यकायक पूरब से लाती हुई दिखाई पड़ती है और चिड़िया उड़ जाती है। वह चिनगी लाल गोले के रूप में बढ़ती चली जाती है। सब संध्या के समय आंगन में एक छोटे-से बिरवे के नीचे एक छोटा-सा दीया जलते देखना चाहते हैं, क्योंकि उनके भीतर लौ पर लौ है, मां की, बहन की, भाभी की, पत्नी की, बहू की, बेटी की, सबके प्राणों में एक-सी सौंधी गंध है, रोटी की, भात की, नए गुड़ की। इन सबसे अलग भी कोई भारतीयता है क्या! है तो उससे मेरा कोई सरोकार नहीं।

समास और विग्रह के रूप में भारतीय संस्कृति के विश्लेषण में पटु पंडितों को प्रणाम करता हूं, वे आर्य-द्रविड़, कोल-किरात की व्यतीत या जाने कल्पित वास्तविकताओं के पीछे मरे जा रहे हैं। मैं देश के किसी छोर पर जाता हूं तो देखता हूं, हल वैसे ही चलता है, घर की छाजन वैसी ही होती है, हर घर की देहली वैसे भी भीतर-बाहर को जोड़ती है, दीया वैसे ही जलाया जाता है, फूल वैसे ही तोड़े जाते हैं, वैसे ही लोग पालथी मारकर दाएं हाथ से खाते हैं, कौर उठाने के पहले वैसे ही कुछ बुदबुदाते हैं, जैसे किसी से अनुमति ले रहे हों, हम अब विश्वंभरा के लिए आत्मभरण करें। वही पक्षी सब जगह चहचहाते हैं, उमगाते हैं, हुलसाते हैं, हुलराते हैं, गुदगुदाते हैं। इसी भाव से मैं जब-जब भारत के बाहर जाता हूं तो मुझे अपरिचित तो बहुत-कुछ लगता है, जो अपनाया न जा सके। एक अंग्रेज प्रोफेसर मुझसे विदेश में मिलने आए, पांच महीनों से अमेरीका में थे, मिलने का कारण बातचीत, शुद्ध बातचीत। मैं अचकचाया, एक-सा भोजन, एक-सा वेश, एक ही भाषा और बातचीत नहीं, और मुझसे बातचीत, हर तरह से बेगाने आदमी से! वे बोले, 'आपके देश पर हमने शासन किया और मैं जानता हूं कि वैर का ही सही, आप रिश्ता तो निभाएंगे, आपसे बातचीत तो हो सकेगी, अकेलापन दूर होगा।' पहले तो मुझे अपने ऊपर, अपने जातीय स्वभाव पर हंसी आई कि हमीं सबके अकेलेपन को दूर करने के लिए बने हैं। इसीसे हम इतना सहते रहे हैं, अपनी चोट हमने नहीं देखी, बस, दूसरों के घाव सहलाते रहे। क्या यह दुर्बलता नहीं? सबसे घुलना-मिलना, अपनी अलग पहचान बनाने का आग्रह न रखना, अपने को ईश्वर की चुनी हुई संतान न मानना, क्या ठीक है? फिर बातचीत हुई, जमकर हुई, उन्हें हिंदुस्तान की चाय पिलाई, जो अमरीका में कहीं नहीं मिलती है। बाद में मैंने अनुभव किया, नहीं, यह जो समय मैंने दिया, वह गंवाना नहीं हुआ। इसका रस वही जानेगा, जो इस रस को चख चुका है।

सुबह से मां व्यग्र है, बहुत दिनों बाद बाबू छुट्टी में घर आए हैं, उनके लिए यह बनाना है, वह बनाना है, और जो मां सामने बैठी है, एक-एक व्यंजन परस रही है, बगल में बहन बीजना डुला रही है, घर का काम संभालने वाली महारिन दूर से चुहल कर रही है; उस सीधे-सादे भोजन का स्वाद जिसके भाग्य में नहीं बदा है, वह इस रस का स्वाद क्या समझेगा, जो अपने को परसकर पाया जाता है।

'वसुधैव कुटुंबकम्' उसी प्रकार के रस के लिए एक खुला आमंत्रण है। अपने को फटक-बीनकर, कूट-पीसकर, रांधकर, सिझाकर आस्वाद्य बनाने को तैयार हो, आत्मीयता के लिए, आत्मदान के लिए तैयार हो तो आओ, यह सरबस रस तुम्हारा है, यह पूरी वसुधा तुम्हारी है, उस आत्मदान के अमृत मुहूर्त में केवल तुम्हारी है। है पर कठिन शर्त, निजता के स्वर्णपिंजर से पहले निकल तो आओ, पंछी! ❖

हमारे हृदय का घट इस तरह के निर्मल, उदात्त भावों से परिपूर्ण हो तो हमारा चिंतन स्वतः ही सकारात्मक बन जाता है। हृदय जितना विशाल होगा—हमारा चिंतन, हमारे विचार उतने ही उदात्त बनेंगे। सारे निषेधात्मक विचार हमेशा संकीर्ण हृदय और अशुद्ध चित्त से ही उत्पन्न होते हैं। जिस व्यक्ति का हृदय विशाल है, वह हर दुख की घटना में से सुख निकाल लेता है।

कैसे सोचें ! कब सोचें !! कितना सोचें !!!

❑ *मुनि प्रशान्तकुमार* ❑

अरबों डॉलर के व्यवसाय वाली एक बहुराष्ट्रीय कंपनी के मुख्य कार्यकारी अधिकारी से एक बार पूछा गया कि व्यवसाय जगत में उनकी कामयाबी का राज क्या है? उन्होंने एक ही शब्द में जवाब दिया—सही सोच व अभिवृत्ति। इतना कहकर वे चुप हो गए। आगे और पूछने पर उन्होंने बताया कि किसी भी क्षेत्र में सफलता और महानता के लिए व्यक्ति में सही सोच होना बेहद जरूरी है।

महान शक्ति

इस मानव जीवन के साथ हमें अनेक दिव्य शक्तियां सहज ही प्राप्त हुई हैं। एक महान शक्ति जो हमें प्राप्त हुई है, वह है सोचने की शक्ति। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य का मस्तिष्क अधिक विकसित है, इसलिए वह सोच सकता है। हम चाहें तो सही दिशा में सोच सकते हैं और चाहें तो गलत दिशा में भी सोचा जा सकता है। सही दिशा में सोचना सफलता का बड़ा आधार बनता है।

सोचने का कार्य मस्तिष्क करता है, पर कैसे सोचना—यह प्रशिक्षण हमें मस्तिष्क को देना होगा, यह कला हमें सीखनी होगी। कितना सोचना, कब सोचना और कैसे सोचना—इस कला को सीखना, जीवन में आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है।

मनोवृत्ति से व्यक्तित्व की पहचान

अभिवृत्ति या मनोवृत्ति से व्यक्ति का मनोविज्ञान तय होता है और इसी से तय होता है कि वह अपने चुने हुए काम में सफल होगा या असफल?

दरअसल किसी व्यक्ति का व्यवहार उसके लक्ष्य, सेवा, स्थान, परिस्थिति या फिर किसी विचार के प्रति उसकी सोच को प्रतिबिंबित करता है। सोचने का ढंग, महसूस करने का तरीका और व्यवहार करने का ढंग ही किसी व्यक्ति की सफलता के पीछे छिपा रहस्य है। सही दृष्टि रखने पर निराशापूर्ण परिस्थिति में भी व्यक्ति सफल होकर निकल सकता है। दूसरी ओर सही प्रवृत्ति नहीं होने पर अच्छे अवसरों का भी लाभ नहीं मिल पाता है। व्यक्ति की प्रवृत्ति से ही तय होता है कि वह समस्या सुलझाने या झगड़े के निपटारे में कैसा तरीका या किस प्रकार की भूमिका अपनाएगा। यह तथ्य आज सर्वमान्य है कि सकारात्मक चिंतन किसी भी क्षेत्र में सफलता का प्रमुख आधार बनता है। जो सही सोचता है—वह सोना बरसाता है। पग-पग पर उसे सफलता की संपदाएं प्राप्त होती हैं।

नकारात्मक सोच : धीमा जहर

जीवन की भागम-भाग और उससे उत्पन्न होने वाले नकारात्मक विचार असल में हमारे समूचे शरीर तंत्र को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार की सोच से धमनियां सिकुड़ने लगती हैं। कभी-कभी समूचा नाड़ीतंत्र ही खतरे की घंटी देने लगता है। एड्रनलिन जैसे रसायन शरीर में भारी मात्रा में पहुंचते हैं, जिससे नाड़ी की गति और रक्तचाप तेज हो जाते हैं और हृदय की पेशियां सिकुड़ जाती हैं। परिणाम यह होता है कि दिल का आकस्मिक दौरा पड़ने की संभावनाएं प्रबल हो जाती हैं और आदमी मौत की ओर धकेल दिया जाता है।

शरीर के लिए नकारात्मक विचार जितने घातक हैं उतने ही ये जीवन की सफलता के लिए भी बाधक तत्त्व हैं। वस्तुतः यह ऐसा धीमा जहर है जो शरीर को खोखला करता है और जीवन की अच्छाइयों, ऊंचाइयों को भी नष्ट कर डालता है।

ईर्ष्या, घृणा, भय, स्वार्थपरता, हीनता की भावना अपराधबोध, दंभ, हताशा, चिंता, प्रतिशोध आदि—ये सब

नकारात्मक भाव माने गए हैं। जैन धर्म में अठारह प्रकार के पाप बताए गए हैं, उनसे बचने की प्रेरणा दी गई है। ये अठारह पाप वस्तुतः नकारात्मक भाव हैं। ये सब भाव हमारे मन-मस्तिष्क और हृदय को निर्मल और पवित्र नहीं रहने देते। ऐसी नकारात्मक मानसिक उत्तेजनाएं हमारी विवेक शक्ति को भी क्षीण कर देती हैं। हमारी ऊर्जा, ज्ञान प्राप्ति के उत्साह, हमारे आनंद, प्रेमभाव, स्वास्थ्य और शांति के स्रोत भी अवरुद्ध हो जाते हैं। निषेधात्मक चिंतन करने वाला व्यक्ति कभी प्रसन्नता का जीवन नहीं जी सकता।

उदार हृदय में उदात्त चिंतन

सकारात्मक चिंतन सफलता की कुंजी है। ऐसे विचार तभी उत्पन्न होंगे जब हमारा भाव जगत निर्मल हो, भावनाएं पवित्र हों। उदारता, सहृदयता, प्रेम, करुणा, मैत्री, उत्साह और सहयोग के भाव हमारे हृदय पटल पर तैर रहे हों। हमारे हृदय का घट इस तरह के निर्मल, उदात्त भावों से परिपूर्ण हो तो हमारा चिंतन स्वतः ही सकारात्मक बन जाता है। हृदय जितना विशाल होगा—हमारा चिंतन, हमारे विचार उतने ही उदात्त बनेंगे। सारे निषेधात्मक विचार हमेशा संकीर्ण हृदय और अशुद्ध चित्त से ही उत्पन्न होते हैं। जिस व्यक्ति का हृदय विशाल है, वह हर दुख की घटना में से सुख निकाल लेता है।

सफलता और स्वास्थ्य की चाबी

सफलता और स्वास्थ्य—ये दोनों उपलब्धियां हम तभी प्राप्त कर सकेंगे कि जीवन में सजग रहकर सकारात्मक विचारों को महत्त्व दें। इन दोनों उपलब्धियों की चाबी है—सकारात्मक विचार। सकारात्मक चिंतन व्यक्ति की दृष्टि को ही बदल देता है। वह व्यक्ति हर कठिनाई में आनंद की अनुभूति कर लेता है। चूंकि उसका हृदय विशाल है, अतः वह विष को भी अमृत बनाना जानता है।

व्यर्थ को दे जो अर्थ

सकारात्मक चिंतन वाला व्यक्ति निरर्थकता में भी सार्थकता की तलाश कर लेता है। अगर हम इस दृष्टि को विकसित करना चाहते हैं तो उस व्यक्ति को अपना आदर्श बनाएं जो हमारे घर के आसपास पड़े कचरे में अपनी अंगुलियां फिरा रहा हो। वह कचरा, जिसे हम ने निरर्थक समझकर फेंक दिया है, उसी कूड़े के ढेर में से कोई जन काम की चीज निकाल रहा है। वह निरर्थक में से सार्थक और सारभूत वस्तु की खोज कर रहा है। हम उसी से सीखें, उसकी दृष्टि को पकड़ें कि निरर्थकता में से सार्थकता की तलाश कैसे की जा सकती है? जिसने यह दृष्टि विकसित कर ली, वह हर प्रतिकूलता में सफलता की सीढ़ी बना लेता है। वैसा व्यक्ति व्यर्थ को नया अर्थ देना जानता है। कहा भी है—'दे सके जो व्यर्थ को अर्थ—वही सिद्ध, वही समर्थ।'

जैन इतिहास में कूरकडूक मुनि की घटना बड़ी प्रसिद्ध है। संवत्सरी महापर्व का दिन, सभी जैन मुनि और सभी जैन धर्मावलंबी अनिवार्य रूप से उस दिन उपवास करते हैं। मुनि लोग उस दिन पानी भी नहीं लेते, कई लोग पानी के सिवाय कुछ नहीं लेते। कूरगडूक मुनि की शारीरिक क्षमता ऐसी नहीं थी कि वे सबकी तरह पूरे दिन-रात निराहार रह सकें। आचार्य प्रवचन दे रहे थे, उसी समय कूरगडूक मुनि भिक्षा लेकर आए और गुरु को पात्र खोलकर दिखाया कि गुरुदेव, गोचरी-आहार लाने के लिए गया था, यह आहार लाया हूं। आचार्य को यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने उसे हेय दृष्टि से देखते हुए कहा—'अरे भुक्खड़, पेटू! आज भी तुम उपवास नहीं कर सके? आज तो संवत्सरी महापर्व है। छोटे बच्चे भी आज के दिन उपवास कर लेते हैं, तुझे आज भी खाने को चाहिए।' इस तरह कटु भाषा में उपालंभ देते हुए और उस शिष्य को हेय दृष्टि से देखते हुए गुरु ने उसके भोजन-पात्र में थूक दिया।

कूरगडूक मुनि ने गुरु के इस व्यवहार पर कोई प्रतिक्रिया नहीं की। पात्र को लेकर अपने स्थान पर आए और यह विचार करने लगे कि मेरे गुरु कितने महान हैं, वे मेरा कितना ध्यान रखते हैं। मैं भिक्षा में खिचड़ी लाया, पर उसमें घी नहीं था। गुरुदेव ने इसमें घी डाल दिया है। इस प्रकार कूरगडूक मुनि गुरु के थूके हुए को ही घी मानकर उसे खिचड़ी में मिलाने लगे। इस तरह के पवित्र भावों से विचार करते-करते उन्हें दिव्य कैवल्यज्ञान प्राप्त हो गया। उनकी साधना सफल हो गई।

निरर्थकता में सार्थकता की तलाश करना, दुख की स्थिति में से सुख निकाल लेना—यही सकारात्मक चिंतन है। कूरगडूक मुनि इसके सक्षम उदाहरण हैं।

आवश्यक है सफलता का आत्मविश्वास

सकारात्मक चिंतन सफलता की ओर बढ़ा हुआ कदम है। हम अपने बारे में जैसा सोचते हैं—वैसा ही व्यवहार करते हैं। जो लोग अपने को नाकाम मानते हैं, कामयाबी उनके हाथ कभी नहीं लगती। विश्वास और व्यवहार आपकी सोच पर असर डालता है। जीवन में आने वाली समस्याओं में सकारात्मक वृत्ति ही समाधानपरक हो सकती है। स्वयं पर विश्वास जीवन की सबसे बड़ी दौलत है।

अपने उद्देश्य, लक्ष्य के बारे में हम सोचें या किसी अवसर-विशेष के बारे में सोचें, पूरी तरह उसी पर ध्यान लगाएं और उसमें सफल हो जाने की ही सोचें, तो सफलता निश्चित है। सफलता पाने के लिए उस पर विश्वास आवश्यक है। सफलता के प्रति आत्मविश्वास बार-बार के अभ्यास से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

जीतने का मानसिक अभ्यास करें

हम अपनी सोच से यथार्थ-लोक की रचना कर सकते हैं। अलबत्ता कभी-कभी सोचा गया विचार उतना प्रभावी नहीं भी हो पाता। लेकिन एक ही विचार पर बार-बार ध्यान लगाने से एकाग्रता बनती है। जब सारी ऊर्जा एक ही लक्ष्य को पाने के लिए समर्पित हो जाती है तब उसकी ताकत कई-गुना बढ़ जाती है। सतत अभ्यास से और अधिक ऊर्जा व क्षमता उत्पन्न होती है। अपने विचारों को यथार्थ में बदलने से शीघ्र ही चमत्कार जैसा कुछ घटित हो सकता है। हमारे विचारों में जब प्रबलता आ जाती है तो वे 'मिसाइल' की तरह तीव्र गति से लक्ष्य-भेदन करते हैं।

दृढ़ता का ही विचार करें

अपने विचार-प्रवाह को सावधानीपूर्वक निर्मित करना चाहिए। सफलता और विफलता में इनकी बहुत बड़ी भूमिका है। अपने को मजबूत बनाने वाले विचार ही चुने जाने चाहिएं और उन्हें महत्त्व देना चाहिए। दरअसल जो हम अपने बारे में सोचते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। यदि हम अपने को डरपोक, कमजोर अथवा बीमार मानकर चलेंगे तो वैसा ही दबा-दबा कायरतापूर्ण और बीमार व्यक्ति जैसा हमारा व्यवहार होगा। कमजोर विचारों से कमजोर व्यक्तित्व बनेगा, जबकि मजबूत विचारों से व्यक्तित्व भी मजबूत ही बनेगा। दूरदृष्टि और क्रांतिकारी विचारों से ही दूरद्रष्टा और क्रांतद्रष्टा बन सकते हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम अपने बारे में क्या सोचते हैं। अपने मन को हम अपनी शक्तियों और योग्यताओं का जैसा विश्वास दिलाते हैं, वैसी ही सफलता हमें मिलती है। व्यक्ति का मूल्यांकन उसके आत्मविश्वास व दृढ़ जीवन-लक्ष्य से ही होता है। जिसमें आत्मविश्वास नहीं, उस पर किसी का भी विश्वास नहीं होता।

दृष्टि में बसा है संसार

व्यक्ति जैसी दृष्टि बना लेता है, उसे संसार भी वैसा ही नजर आता है। युधिष्ठिर और दुर्योधन दोनों को बुलाकर श्रीकृष्ण ने उन्हें एक कार्य करने को कहा। युधिष्ठिर को कहा कि इस मनुष्य-लोक में जितने भी बुरे आदमी मिलें, उनके नाम रजिस्टर में दर्ज करके लाना है। दुर्योधन से कहा—'तुम्हें जितने भी अच्छे आदमी इस धरती पर मिलें, उनके नाम रजिस्टर में दर्ज करके लाना है।' दोनों गए—पूरी दुनिया घूमे। एक सप्ताह का समय पूरा हुआ। युधिष्ठिर का रजिस्टर देख श्रीकृष्ण ने कहा—'क्यों धर्मपुत्र, मेरा छोटा-सा काम तुम नहीं कर पाए?' धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने नम्रता से निवेदन किया—'भगवन्! आपने मुझे बुरे आदमियों के नाम दर्ज करने का निर्देश दिया था। पर मुझे तो एक भी बुरा आदमी नहीं मिला—बुरा जो देखन मैं चला, मुझसे बुरा न कोय।' दुर्योधन को बुलाकर श्रीकृष्ण ने अपने दिए काम के बारे में पूछा। दुर्योधन ने कहा—'आपने अच्छे आदमियों के नाम लिखने को कहा था। मैं पूरी दुनिया में घूम आया। एक भी अच्छा आदमी मुझे तो नजर नहीं आया।' महाभारत ने इसी प्रसंग से यह सिद्धांत बनाया—'यथा दृष्टिः तथा सृष्टि।'

सफलता का संदेश दें

हमारा मस्तिष्क विचारों एवं विश्वास का सर्वोत्तम संवाहक है। यह हमारी सफलता को सुनिश्चित करता है। जब हम सफल सकारात्मक विश्वास की रचना करते हैं तब हमारा मस्तिष्क इस संदेश को हमारे शरीर में प्रसारित कर उस को सफलता प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करता है और हम निश्चित ही सफलता का वरण कर लेते हैं।

हमें निषेधात्मक दृष्टि से कभी नहीं सोचना चाहिए। निषेधात्मकता तो उस दलदल के समान है जिसमें व्यक्ति एक कदम भी बढ़ा दे तो उस दलदल से निकलना दुष्कर हो जाता है, बल्कि वह उस दलदल में और अधिक फंसता ही चला जाता है। इस दलदल में फंसकर व्यक्ति अपने लक्ष्य, अपनी सफलता से दूर होता चला जाता है। हमें इसी दलदल, इसी बाधा से बचकर निकलने का प्रयास करना है और लक्ष्य के बीच आने वाली समस्त बाधाओं से मुक्ति पानी है।

जितना शीघ्र हो सके, निषेधात्मक भावों से मुक्त होने का अभ्यास प्रारंभ करना चाहिए। उदाहरण के लिए कोई पूछे—आप कैसे हैं? तब इस प्रकार का जवाब कभी न दें—'ठीक है, गुजर रही है, जिंदगी घिसट रही है।' इसके विपरीत यह कहना अच्छा है—'जी, मैं बिल्कुल ठीक हूं, आनंद में हूं—आप कैसे हैं?'

दूसरों के संबंध में कभी चर्चा करें तो उनके गुणों की ही चर्चा करें। किसी की निंदा में न उलझें। इससे स्वयं को ही हानि उठानी पड़ती है। जिसमें जो अच्छाई है, गुण है—उसकी खुलकर प्रशंसा करना अच्छी सोच की निशानी

होती है। अपने बारे में भी ऐसी ही अभिव्यक्ति दें, जिसे सुनकर दूसरों को भी प्रसन्नता हो और आपका भी आत्मविश्वास बढ़े।

नया सोचें, नया जीएं

हमें अपनी सोच को विस्तृत करना चाहिए। अभाव का रोना न रो कर, जो अच्छा हो सकता है उसे देखने का यत्न करना चाहिए। नए विचारों से उत्प्रेरित ही होना और उनका स्वागत करना हमें अपने स्वभाव का हिस्सा बनाना चाहिए। इसी से जीवन में नवीनता मिलेगी। नया जानने एवं सीखने की स्फुरणा होगी।

अपना आकलन करें

हम सकारात्मक सोचते हैं या नकारात्मक—मोटे तौर पर अपना एक आकलन करना चाहिए। निम्न परिस्थितियों के संदर्भ में सोचें और पता लगाएं कि हम किस तरह सोचते हैं और हमें किस तरह से सोचना चाहिए—

स्थिति	नकारात्मक सोच	सकारात्मक सोच
कार्य	यह तो बड़ा मुश्किल है। कैसे संभव होगा? शायद नहीं कर पाऊंगा।	मैं इस कार्य को पूरा करूंगा। कोई नया तरीका खोजूंगा, कार्य अवश्य पूरा करूंगा।
खेल में हारने पर	हम हार गए, कभी जीत ही नहीं सकते।	फिर प्रयास करेंगे और एक दिन जीत कर दिखाएंगे।
व्यापार	यह व्यापार मैं कर चुका हूं, इसमें मुझे सफलता मिलती ही नहीं है।	जो गलतियां तब मैंने की थीं, उनसे बचूंगा। मैं नए उत्साह के साथ पुनः कार्य करूंगा।
प्रतिस्पर्धा प्रतियोगिता	औसत से प्रतिस्पर्धा।	सर्वोत्तम से प्रतिस्पर्धा।
बजट	बढ़ती महंगाई—गरीबी में आटा गीला।	आमदनी बढ़ाकर और अनावश्यक खर्च कम करके आवश्यकता की पूर्ति।
उम्र	अब मेरी उम्र आ गई, अब मुझे करना ही क्या है, करूंगा तो सफल नहीं हो सकूंगा।	उम्र के साथ प्राप्त अनुभव से मुझे कई लाभ हैं, अभी भी मैं बहुत-कुछ कर सकता हूं। मुझे अपनी क्षमता पर विश्वास है।
लक्ष्य	क्षुद्र लक्ष्यों पर नजर।	उच्च लक्ष्यों पर नजर।
विवाद	गड़े-मुर्दे उखाड़ने की मनोवृत्ति। समस्या को बढ़ाने की आदत।	बीती बातों का विस्मरण। समस्या को समाप्त करने का दृष्टिकोण।
परीक्षा	घबराहट, उत्तीर्ण न होने का भय।	उत्साह, नवऊर्जा और सफल होने का दृढ़ विश्वास।
अनुत्तीर्ण या असफल होने पर	चिंता, हीन-भाव, मुंह छिपाना।	इस नतीजे ने मुझे सजग कर दिया है, अब पूरी शक्ति लगाकर तैयारी करूंगा।
गलतियां	दूसरों की गलतियों को बढ़ा-चढ़ाकर देखना। उन्हें मुद्दा बना लेना।	निरर्थक बातों में न उलझना। सबके बीच में न बताकर एकांत में चर्चा करना, सजग करना।
अपनी गलती	गलत उपायों से भी अपने को सही सिद्ध करने का प्रयत्न। दूसरों पर दोषारोपण।	अपनी गलती को सरलता से स्वीकारना। इसमें दूसरों का नहीं, मेरा ही दोष है।
कठिनाई	परिस्थिति और भाग्य को कोसना। अधीर होकर गलत निर्णय लेना। हम तो फंस गए, इससे निकल पाना अब संभव नहीं है।	धीरज से झेलना और मनोबल बनाए रखना। अपना आत्मावलोकन कर हिम्मत से आगे की सोचना। सहिष्णुता व विवेक से परिस्थिति पर विचार करना और आशा करना कि सब ठीक होगा। ❖

वह पानी लाने चली ही थी कि खट की आवाज के साथ पिंजरा खुला और तोता बाहर आ गया। वह उड़ने लगा तो पोन्नी ने बूढ़े को जगाया। लेकिन वह उठा ही नहीं। वह तो गहरी नींद में सो रहा था। तोता उड़कर नल पर जा बैठा। वह अपनी चोंच से बूंद-बूंद पानी पीने लगा। तभी पोन्नी को एक काली बिल्ली दिखाई दी। वह तोते पर झपटने की तैयारी में थी। पोन्नी ने फिर बूढ़े को झकझोरा। वह झुंझलाकर बोला, 'मैंने कहा न, पचास पैसे ले आ। तभी भविष्य बताऊंगा। चल भाग, तंग मत कर। आ, जाते हैं बिना पैसे के भविष्य पता करने।'

बालकथा

पोन्नी, शीला और तोता

❑ इंदिरा अनंतकृष्णन ❑

पोन्नी बड़ी प्यारी लड़की थी। उसे स्कूल में पढ़ने का बड़ा चाव था। लेकिन वह पढ़ नहीं सकती थी। उसकी मां मेहनत-मजदूरी करके अपना और पोन्नी का पेट पालती थी। पोन्नी भी मां का हाथ बटाती थी। वह मेहनत-मजदूरी करने के लिए अभी छोटी थी। इसलिए स्कूल की लड़कियों को छोटी-छोटी चीजें बेचती थी। बेरीवुड स्कूल के सामने पटरी पर वह छोटी-छोटी चीजों की दूकान लगाती थी। उसके पास तरह-तरह का सामान होता—पेंसिल, रबड़, फुटा, शार्पनर, रिबन, जूतों के तस्मे, मिठाई की गोलियां, चूड़ियां इत्यादि। ये सब चीजें एक टाट-पट्टी पर फैली होती थीं और पोन्नी बैठी-बैठी बड़े धैर्य से ग्राहक आने की प्रतीक्षा करती।

स्कूल की आधी छुट्टी की घंटी बजी। पोन्नी ने लड़कियों को स्कूल से बाहर आते देखा। एक लड़की उसके पास आकर रुकी। बोली, 'एक पेंसिल दो, झटपट!'

पोन्नी ने एक पेंसिल उठाकर उसे दी। वह झट से पेंसिल लेकर सड़क पार करने को दौड़ी। पोन्नी ने उसे आवाज लगाई, 'ओ लड़की! पचीस पैसे तो देती जा। पैसे देने तो भूल ही गई।'

'ओह, मैं तो वास्तव में भूल ही गई', कहकर लड़की लौटी और उसने एक पचीस पैसे का सिक्का निकालकर पोन्नी को दिया। 'घंटी बज गई न, इसलिए जल्दी में पैसे देना भूल गई। हां, लेकिन मुझे फिर 'ओ लड़की' न कहना। मेरा नाम शीला है। मेरा नाम लेकर ही पुकारना। ठीक है!'

'अब मैं तुम्हारा नाम लेकर ही बुलाऊंगी। और मेरा नाम पोन्नी है।'

दोनों लड़कियां हंस पड़ीं। शीला ने दौड़कर सड़क पार की और स्कूल में घुस गई।

उस रात अपनी झोंपड़ी में लेटे हुए पोन्नी ने अपनी मां से कहा, 'अम्मा! मैं भी शीला की तरह स्कूल में पढूंगी। मुझे भी स्कूल भेज दो न।'

मां ने कहा, 'बस, बेटी! यही मत कहो। तुम्हें बेरीवुड स्कूल में भेजने की ताकत मुझमें नहीं है। इस स्कूल का खर्च मैं नहीं उठा सकती।'

रोज की तरह, अगले दिन भी पोन्नी ने अपनी छोटी-सी 'दूकान' लगा रखी थी। तभी एक बूढ़ा आदमी उधर आया। उसके एक हाथ में बेंत की टोकरी थी। दूसरे हाथ में एक पिंजरा था। वह बगल में चटाई दबाए हुए था। उसने चटाई पीपल की छांव

में बिछाई। वहीं टोकरी और पिंजरा पास रखकर बैठ गया। पिंजरे में एक सुंदर हरे रंग का तोता था। वह बोला, 'टें-टें।' पोन्नी बड़े ध्यान से यह सब देख रही थी। इतने में स्कूल की छुट्टी हो गई। सब लड़कियां स्कूल से निकलकर अपने-अपने घर चल दीं। शीला ने पोन्नी के पास आकर पूछा, 'तुम उधर क्या देख रही हो?'

पोन्नी ने कहा, 'वह बूढ़ा आदमी पता नहीं कौन है?'

शीला उधर देखकर बोली, 'पोन्नी, लगता है यह तो ज्योतिषी है। इसके पास जो तोता है न! वह लोगों का भविष्य बताने में इसकी मदद करता है। मैं कल जरूर पैसे लेकर आऊंगी। तब इससे अपना भविष्य पूछूंगी। बड़ा मजा आएगा। अच्छा, अब चलती हूं। तुम भी उससे अपना भविष्य पूछ लेना।' कहकर वह खुशी-खुशी घर चली गई।

उस रात पोन्नी की मां चावल की कंजी पका रही थी। पोन्नी ने धीरे-से उससे कहा, 'अम्मा, मुझे कुछ पैसे दोगी?'

'क्यों, क्या करेगी पैसों का?' मां ने कुछ झुंझलाकर कहा।

'मैं अपना भविष्य पूछूंगी। शीला कह रही थी कि ज्योतिषी का तोता सब-कुछ जानता है। वह सबका भविष्य बता सकता है।'

'तुझे पता है न! यहां गुजारा ही मुश्किल से कर पाती हूं। सिर्फ एक वक्त का खाना नसीब होता है। तू बड़ी हो जा जल्दी से। फिर तू भी मेहनत-मजदूरी करेगी। तभी मां-बेटी को दोनों वक्त भोजन मिल सकेगा।'

पोन्नी रोकर बोली, 'नहीं अम्मा, मैं तो स्कूल जाऊंगी।' मां को उसका यह हठ अच्छा नहीं लगता।

'अच्छा, बक-बक मत कर। चल, अपना काम कर', मां ने झिड़क दिया। बात वहीं-की-वहीं रह गई। पोन्नी मां की झाड़ खाकर रोते-रोते सो गई।

अगले दिन वह बूढ़ा फिर पीपल के नीचे बैठा था। शीला दौड़ती हुई आई। बूढ़े को पचास पैसे देकर अपना भविष्य पूछा। फिर पोन्नी के पास आकर बोली, 'पता है, मुझे उस बूढ़े बाबा ने क्या बताया है! मैं बहुत पढ़-लिख कर अमीर हो जाऊंगी।'

पोन्नी ने पूछा, 'तोते ने क्या किया, भला?'

'बूढ़े बाबा ने टोकरी में से एक कार्डों का पुलिंदा निकाला। उसे खोलकर सब कार्ड चटाई पर बिछा दिए। तोते ने उनमें से मेरे लिए गुलाबी कार्ड निकाला। बाबा ने उसी से पढ़कर मेरा भविष्य बताया।'

'सचमुच!' इससे पहले कि पोन्नी कुछ और पूछती, शीला वहां से भाग गई।

उस रात बड़ी उमस थी। पोन्नी को नींद नहीं आ रही थी। उसने मां को बताया, 'अम्मा! शीला का गुलाबी कार्ड निकला था। वह बहुत पढ़ेगी। धनी बनेगी। मुझे भी गुलाबी कार्ड चाहिए। पचास पैसे दे दो न, अम्मा! मेरी अच्छी अम्मा! सिर्फ एक बार मुझे पचास पैसे दे दो।'

'पोन्नी, तू क्यों बार-बार मुझे पैसों के लिए तंग करती है?'

'अम्मा, मैं शीला की तरह स्कूल कब जाऊंगी?'

'तू चुपचाप सो जा पोन्नी। तुझे कितनी बार समझाया है, तू स्कूल नहीं जा सकती।' पोन्नी चुपचाप स्कूल के सपने देखती हुई सो गई।

अगले दिन पोन्नी से नहीं रहा गया। वह भी बूढ़े के पास पहुंची। वह बहुत नम्रता से बोली, 'बाबा, मेहरबानी करके मेरा भी भविष्य बताओ?'

बूढ़े ने पोन्नी की तरफ देखा। फिर जरा खखारकर बोला, 'हां, हां, निकालो पचास पैसे।'

'लेकिन पैसे तो मेरे पास नहीं हैं।'

'तो बिना पैसे के भविष्य पता करने चली है? चल, क्या भविष्य मुफ्त में बताया जाता है? चल भाग यहां से।'

पोन्नी उदास मन से वापस अपनी जगह आ बैठी। लेकिन पोन्नी का ध्यान उधर ही लगा रहा। उस दिन गर्मी बहुत ज्यादा थी। पोन्नी का गला प्यास से सूख रहा था। उधर तोता भी पिंजरे में अपने पंख फड़फड़ा रहा था। पोन्नी ने जाकर देखा। पिंजरे के अंदर पानी की कटोरी बिल्कुल सूखी पड़ी थी। बूढ़ा

पास ही पड़ा खर्राटे भर रहा था। पोन्नी ने तोते से कहा, 'जरा ठहर, मैं सामने नल पर से अपने चुल्लू में भरकर पानी लाती हूं तेरे लिए।'

वह पानी लाने चली ही थी कि खट की आवाज के साथ पिंजरा खुला और तोता बाहर आ गया। वह उड़ने लगा तो पोन्नी ने बूढ़े को जगाया। लेकिन वह उठा ही नहीं। वह तो गहरी नींद में सो रहा था। तोता उड़कर नल पर जा बैठा। वह अपनी चोंच से बूंद-बूंद पानी पीने लगा। तभी पोन्नी को एक काली बिल्ली दिखाई दी। वह तोते पर झपटने की तैयारी में थी। पोन्नी ने फिर बूढ़े को झकझोरा। वह झुंझलाकर बोला, 'मैंने कहा न, पचास पैसे ले आ, तभी भविष्य बताऊंगा। चल भाग, तंग मत कर। आ जाते हैं बिना पैसे के भविष्य पता करने।'

यह कहकर वह फिर सो गया। पोन्नी ने सोचा कि वह स्वयं ही तोते की रक्षा करेगी। वह लपककर सड़क पार कर गई। फिर वहां पहुंचकर उसने झपटकर तोते को अपने हाथों में ले लिया और उसे अपने सीने से लगाकर वापस आ गई। पीपल के नीचे सोते हुए बूढ़े को फिर जगाया, 'लो बाबा, अपना तोता संभालो।'

'मैंने कहा न, मुझे तंग मत कर! क्यों चिल्लाए जा रही है?' कहते-कहते बूढ़े ने पोन्नी के हाथों में तोता देखा। बूढ़ा हड़बड़ाकर उठा और बोला, 'अच्छा, अच्छा तो मेरा तोता चुराकर ले जा रही थी? भविष्य नहीं बताया तो तोता ही चुराने चल पड़ी।' बूढ़े ने उसके हाथ से तोता झपटकर छीन लिया।

पोन्नी की आंखों में आंसू आ गए। वह रोती-रोती अपनी जगह जा बैठी। तभी किसी ने मधुर वाणी में प्यार से कहा, 'नहीं, बच्ची रो मत।'

पोन्नी ने सुबकते हुए कहा, 'बूढ़ा बाबा मुझ पर चोरी लगा रहा है।'

बूढ़ा झटके से उठा और गुस्से से बोला, 'चोरी और सीनाजोरी। मुफ्त में भविष्य पूछना चाहती थी। मैंने नहीं बताया तो मेरा तोता ही लेकर भाग रही थी। पकड़ लिया तो रोकर डराती है कि जैसे बिल्कुल निर्दोष हो।'

उस आदमी ने कहा, 'जरा शांति से काम लो। मैं अपनी कार में बैठा-बैठा सब देख रहा था। इसी ने तो तुम्हारे तोते को उस काली बिल्ली से बचाया है। नहीं तो बिल्ली कब का तुम्हारा तोता चट कर गई होती।'

इतने में स्कूल की छुट्टी हो गई। सब लड़कियां बाहर आईं। शीला भी दौड़ी-दौड़ी आई और बोली, 'डैडी! यही पोन्नी है। मैंने कल बताया था न!'

'अच्छा, यही पोन्नी है! अरे यह तो बहुत अच्छी लड़की है। अभी-अभी इसने तोते की जान बचाई है। नहीं तो बिल्ली उसे कब का खा जाती।'

'सचमुच?' शीला ने विस्मय से पूछा।

फिर कहा, 'पोन्नी सचमुच अच्छी लड़की है।'

पोन्नी की मां भी अपने काम से लौटकर आ गई थी। उसने पुकारा, 'पोन्नी, चलो घर चलें।'

पोन्नी की मां पसीने से सराबोर थी। पोन्नी को शीला और उसके डैडी से बातें करते देखकर वह कुछ चकित हुई। तभी शीला के डैडी ने कहा, 'देखो, पोन्नी बहुत अच्छी लड़की है। अगर तुम्हें आपत्ति न हो तो मैं इसे भी पढ़ाना चाहता हूं।'

पोन्नी की मां ने धोती के पल्लू से अपना पसीना पोंछा। फिर बोली, 'साहब! पोन्नी तो हमेशा पढ़ने की रट लगाए रहती है। भला, मैं कैसे इतना खर्चा उठा सकती हूं। मैं क्या कहूं, मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता।'

उसकी आंखों से आंसू बह चले। तभी बूढ़ा भी अपना सामान लिए वहां आ पहुंचा और बोला, 'देखें तो भला तेरी किस्मत में क्या लिखा है?'

उसने कार्ड पूरी तरह फैलाए भी नहीं थे कि तोते ने झपटकर गुलाबी कार्ड निकालकर अलग कर दिया। पोन्नी खुशी से उछल पड़ी, 'अरे वाह! बाबा, तोते ने तो कमाल ही कर दिया!'

शीला के डैडी ने कहा, 'अच्छा, अब चलते हैं। हम कल पोन्नी के पढ़ने का इंतजाम कर देंगे। पोन्नी पढ़ेगी। ठीक है न!'

यह कहकर वह शीला को कार में बिठाकर चले गए। पोन्नी और उसकी मां एक-दूसरे की तरफ भौचक्क-सी देखती रहीं। ❖

रूपांतर : **ब्रह्मप्रकाश गुप्त**

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

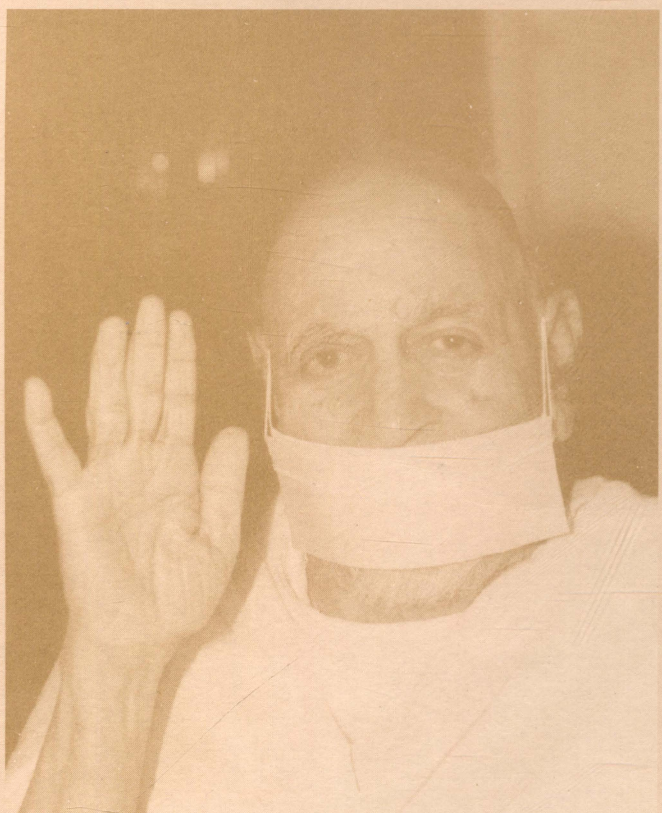

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

श्रद्धा की प्रतिमूर्ति

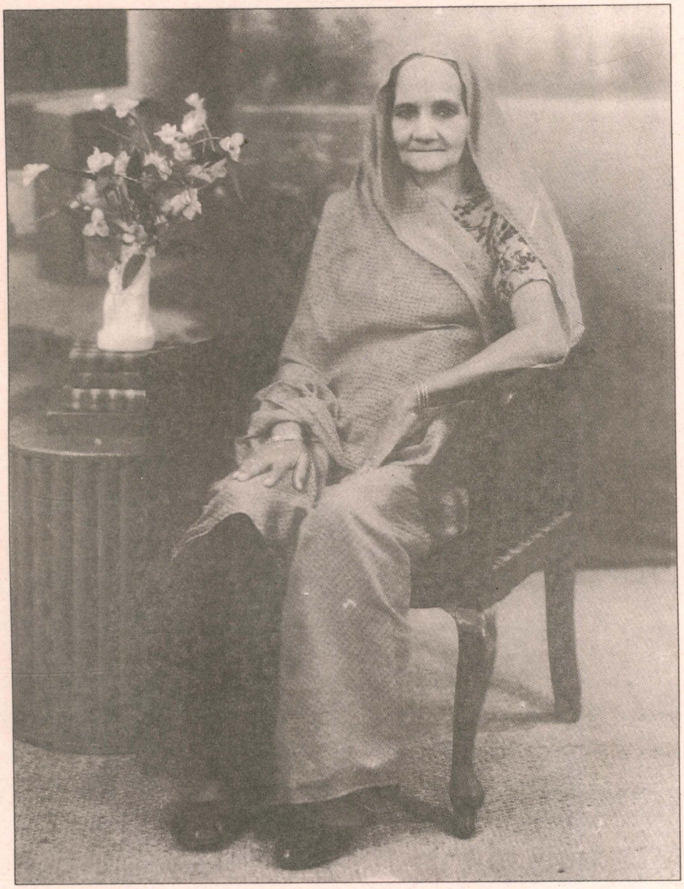

श्रीमती मनोहरी देवी बैद

जन्म : 21 जून, 1903 स्वर्गवास : 21 मार्च, 1975

Baid Engineers (P) Ltd.

H-8, Civil Township, Rourkela 769004

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।